वैदिक धर्म

अंक १

क्रमांक १८० : जनवरी १९६४

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

विषयानुक्रमणिका

स्वाध्यायमण्डलके वैदिक प्रकाशन

वेदोंकी संहिताएं

'वेद' मानवधर्मके आदि और पवित्र ग्रंथ हैं। हरएक आर्य धर्मीको अपने संग्रहमें इन पवित्र ग्रंथोंको अवश्य रखना चाहिये।

सूक्ष्म अक्षरोंमें मुद्रित	मूल्य	डा.व्य.
१ ऋग्वेद संहिता	१०)	१)
२ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	२)	.५०
३ सामवेद संहिता	२)	.५०
४ अथर्ववेद संहिता	६)	.७५
बडे अक्षरोंमें मुद्रित		
५ यजुर्वेद (वाजसनेयि) संहिता	४)	.५०
६ सामवेद संहिता	३)	.५०
७ यजुर्वेद काण्व संहिता	५)	.७५
८ यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता	१०)	२)
९ यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता	१०)	१.२५
१० यजुर्वेद काठक संहिता	१०)	१.२५

दैवत-संहिता

एक एक देवताके मंत्रोंका अध्ययन करनेसे वेदमंत्रोंके अर्थका ज्ञान ठीक तरह तथा शीघ्र हो सकता है। इसलिये ये देवता-मंत्र-संग्रह मुद्रित किये हैं।

१ दैवत संहिता– (प्रथम भाग)

अग्नि-इन्द्र-सोम-मरुद्देवताओंके मंत्रसंग्रह।

(अनेक सूचियोंके समेत एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अग्नि देवता मंत्रसंग्रह	६)	१)
२ इंद्र देवता मंत्रसंग्रह	७)	१)
३ सोम देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
४ मरुद्देवता मंत्रसंग्रह	२)	.५)

२ दैवत संहिता– (द्वितीय भाग)

अश्विनौ-आयुर्वेद प्रकरण-रुद्र-उषा-अदिति-विश्वेदेव। इन देवताओंके मंत्रसंग्रह।

अनेक सूचियोंके साथ एक जिल्दमें)	१२)	२)
१ अश्विनौ देवता मंत्रसंग्रह	३)	.५०
२ आयुर्वेद प्रकरणम् मंत्रसंग्रह	५)	१)
३ रुद्रदेवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
४ उषा देवता मंत्रसंग्रह	१.७५	.५०
५ अदितिः आदित्याश्च मंत्रसंग्रह	३)	१)
६ विश्वेदेवाः मंत्रसंग्रह	५)	१)

३ दैवत संहिता– (तृतीय भाग)

४ उषा देवता (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
५ अश्विनौ देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	४)	.५०
६ मरुद्देवताका मंत्रसंग्रह (अर्थ तथा स्पष्टीकरणके साथ)	५)	.७५

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(अर्थात् ऋग्वेदमें आये हुए ऋषियोंके दर्शन।)

१ से १८ ऋषियोंका दर्शन (एक जिल्दमें)	१६)	२)

(पृथक् पृथक् ऋषिदर्शन)

१ मधुच्छन्दा	ऋषिका	दर्शन	१)	.२५
२ मेधातिथि	,,	,,	२)	.२५
३ शुनःशेप	,,	,,	१)	.२५
४ हिरण्यस्तूप	,,	,,	१)	.२५
५ काण्व	,,	,,	२)	.२५
६ सव्य	,,	,,	१)	.२५
७ नोधा	,,	,,	१)	.२५
८ पराशर	,,	,,	१)	.२५
९ गोतम	,,	,,	२)	.३७
१० कुत्स	,,	,,	२)	.३७
११ त्रित	,,	,,	१.५०	.३१
१२ संवनन	,,	,,	.५०	.१२
१३ हिरण्यगर्भ	,,	,,	.५०	.१२
१४ नारायण	,,	,,	१)	.२५
१५ बृहस्पति	,,	,,	१)	.२५
१६ वागाम्भृणी	,,	,,	१)	.२५
१७ विश्वकर्मा	,,	,,	१)	.२५
१८ सप्त ऋषि	,,	,,	.५०	.१२
१९ वसिष्ठ	,,	,,	७)	१)
२० भरद्वाज	,,	,,	७)	१.५०

मन्त्री— 'स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट— 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी)' [जि. सूरत]

वैदिकधर्म

हम विजयी हों

वयं जयेम त्वया युजा वृतं
अस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि
प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज ॥

ऋ. १।१०२।४

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वया युजा वयं) तेरी सहायतासे हम (भरे भरे जयेम) प्रत्येक युद्धमें जीतें, तू (अस्माकं वृतं अंशं उत् अव) हमारे वरणीय भागकी रक्षा कर। (अस्मभ्यं वरिवः सुगं कृधि) तू हमारे लिए धन और आनेके रास्ते सुगम बना। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! तू (शत्रूणां वृष्णि आ रुज) शत्रुओंके बलको क्षीण कर।

वह परमात्मा अपने भक्तोंकी हर तरहसे रक्षा करता है। इस पर पूर्णरूपसे विश्वास करनेवाला कभी भी आपत्तिमें नहीं पडता, कभी भी दुःखी नहीं होता। अतः उस सर्व-शक्तिमान्की सेवा करनेवाला सर्वदा विजयी होता है।

संकट-विपत्ति करे न विचलित,
पाप-पंक, मद-मोह हटाओ ॥
हे ईश्वर दो शक्ति ऐसी,
ऐश्वर्य उपभोग करें हम।
भूलें कभी न प्रभुवर तुमको,
तव महत्तामें भक्ति धरें हम ॥
सर्व शक्ति भाण्डार हमें,
चैतन्य युक्त बल दान करो।
स्वयं सुरक्षित होवें,
जगकी रक्षाहित गतिमान् करो ॥

—श्री सुन्दर थाँवरदास " सोम "

वेद मंत्रार्थ जिज्ञासा

लेखक— श्री जगन्नाथ शास्त्री, न्यायभूषण, विद्याभूषण, वेदगीतादिग्रंथ लेखक, झज्जर (जि. रोहतक)

वैदिक स्वाध्यायी विद्वद्वरोंकी सेवामें सादर निवेदन है कि यजु. ३९।६ मंत्रके अर्थपर जिज्ञासा उत्पन्न हुई है।

इस जिज्ञासापूर्तिके लिये "वैदिकधर्म, पारडी (सूरत) में अपने विचार स्पष्टतया लिखें। जिससे मंत्रका स्पष्टार्थ मेरे हृदयमें स्थित हो जावे। यह मेरा लेख विवादरूपसे आपके सामने उपस्थित नहीं है। प्रत्युत जिज्ञासाके लिये दिया है।

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीये
आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे
मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे ।
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे
विश्वेदेवा द्वादशे ॥ (य. ३९।६)

इस मन्त्रपर श्री स्वामी दयानन्दजीका हिन्दी भाष्य निम्न प्रकारसे है—

मंत्रार्थ— इस जीवको (प्रथमे) शरीर छोडनेके पहिले (अहन्) दिन (सविता) सूर्य (द्वितीये) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि (तृतीये) तीसरे (वायुः) वायु (चतुर्थे) चौथे (आदित्यः) महीना (पञ्चमे) पांचवें (चन्द्रमाः) चंद्रमा (षष्ठे) छठे (ऋतुः) वसन्तादि ऋतु (सप्तमे) सातवें (मरुतः) मनुष्यादि प्राणी (अष्टमे) आठवें (बृहस्पतिः) बडोंका रक्षक सूत्रात्मा वायु (नवमे) नवमेंमें (मित्रः) प्राण (दशमे) दशवेंमें (वरुणः) उदान (एकादशे) ग्यारहवेंमें (इन्द्रः) बिजली और (द्वादशे) बारहवें दिन (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य उत्तम गुण प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

श्री स्वामीजीके अर्थ किये हुए शब्दोंपर जिज्ञासा उत्पन्न हुई है—

(१) क्या जीवात्मा मृत्युके अनन्तर १२ दिन पर्यन्त अन्य देहको ग्रहण नहीं करता? यह मंत्र देहपरक तो नहीं है, आत्मपरक प्रतीत होता है, क्योंकि देहकार्य तो— "भस्मान्तꣳ शरीरम्" यजु. ४०।१५ तथा "निषेकादिश्मशानान्तो मंत्रैर्यस्योदितो विधिः" मनु. २।१६ यहां तक समाप्त हो जाता है।

(२ क्या आधुनिक रीतिसे "दशाह", "एकादशाह", "द्वादशाह" विधिके सूचक मंत्र है? अथवा "द्वादशाह" के स्थानपर वार्षिकी (बरसी) की विधि आत्माकी शान्तिके लिये की जाती है, उस विधिका सूचक यह मंत्र है?

(३) देहत्यागके अनन्तर मृत जीवात्माकी शान्तिके लिये प्रत्येक दिनमें मंत्राऽनुसार तद्गति सञ्चालनके लिये क्या क्या कर्तव्य करना चाहिये।

(४) क्या नीचे लिखे अथ. १८।४।५७ मंत्राधारपर १२ दिनोंतक जीवात्माकी गति संचालनके लिये मधुधारा देनी चाहिये ?

ये चं जीवा ये चं मृता ये जाता ये चं यज्ञियाः।
तेभ्यों घृतस्यं कुल्यैतु मधुंधारा व्युन्दुती ॥

अथ. १८।४।५७

अर्थ— (ये च मृताः) जो मर गए हैं, (तेभ्यः) उनके लिये (घृतस्य कुल्या) घृत और अन्यान्य पुष्टिकारक पदार्थोंकी धारा और (मधुधारा) मधुर, मधु और आनन्दकी धारा (वि+उन्दती) हृदयको आर्द्र करती हुई (एतु) प्राप्त हो।

यह अर्थ श्री. पं. जयदेव विद्यालंकारजीने अजमेरमें मुद्रित अथर्ववेद चतुर्थ खण्ड पृ. १२७ में लिखा है। क्या मृत जीवात्माको मधुधारा, घृतधारा इन ही दिनोंमें पहुंचानी चाहिये, अथवा कभी कभी। इसी भावका प्रतिपादक मंत्र अथर्व १८।३।७२, पृ. ९६ पर भी मिलता है।

(५) क्या भगवद्गीताके निम्नलिखित २ श्लोक यजुः ३९।६ मंत्रके भावको लेकर लिखे गए हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

भग. ८।२४-२५

अथवा

पृ॒थि॒व्या॒ऽअ॒हमु॒दु॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑ह॒म॒-
न्तरि॑क्षा॒द्दि॒व॒मारु॑हम्।
दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥

य. १७।६७

यह मंत्र भी यजु. ३९।६ के भावको स्पष्ट करता है। तथा श्री स्वा. दयानन्दजीने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका पृ. २०५ संस्क. १९३४ में लिखा है—

'यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृ-शरीरं मातृ-शरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्मनि प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥

इन शब्दोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य (जीवात्मा) मृत्युके पश्चात् वाय्वादिमें कई दिन लगाकर औषधि द्वारा गर्भमें आता है यथा—

तस्माद्वेतस्माद्वा आत्मनः आकाशः संभूतः,
आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः,
अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः,
ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः।

यह सृष्टिक्रम है। तथा च—

यदा वै पुरुषो अस्माल्लोकात्प्रैति,
स वायुमभिगच्छति। छान्दो. ५।१०।१

उपनिषद्में भी जीवकी मुक्ति और पुनर्जन्मपर 'अग्निर्ज्योतिः' आदि पाठ मिलता है।

(नोट) इस लेखको मैंने विवाद अथवा वितण्डा रूपसे नहीं लिखा, जिज्ञासारूपसे लिखा है। ● ● ●

यजुर्वेदके प्रथम अध्यायके द्वितीय अनुवाक पर विवेचन--

वेद-व्याख्यान

[२]

(लेखक— श्री पं. वीरसेन वेदश्रमी, वेद-सदन, महारानी रोड, इन्दौर नगर)

[गताङ्कसे आगे]

पृथिव्यसि

पृथिवीविस्तृतः— (महर्षि दयानन्दः)

पूर्वोक्त यज्ञ जो वसु है, पवित्र है और द्युलोकके समान विद्या, विज्ञानका एवं प्रकाशका हेतु है, वह सर्वत्र विस्तृत है, फैलनेवाला है। वह एकदेशी नहीं है। यह प्रत्यक्ष जो बाह्य कर्मकाण्डमय अग्निहोत्ररूपी यज्ञ है, वह भी वायुसे संयुक्त होकर इतस्ततः व्याप्त होजाता है। उसको भी हम किसी सीमा या परिधिसे आबद्ध नहीं कर सकते। अर्चि और धूम्र उसके दो गमनके स्वरूप हैं। इन दोनों मार्गोंसे वह समस्त ब्रह्माण्डमें विस्तृत होजाता है और पुनः पृथ्वी पर लौट आता है। इस प्रकार यज्ञके पृथिवी शब्दके विस्तृत अर्थकी सार्थकता करता है, पुनः पृथिवीके पार्थिव भूभाग इस अर्थको भी सार्थक करता है।

अर्चिमार्ग— जब वह यज्ञ पृथिवीके व्यापकरूप अर्थको सार्थक करता है, तब यज्ञसे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर क्रियायें दृष्टिगोचर होती जाती हैं और उसमें दी हुई आहुतियां भी सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर होती हुई अपने गतिमण्डल का परिभ्रमण करती हुई ज्ञात होती हैं। उस समय उनमें प्राणशक्तिकी वृद्धि जबतक होती जाती है तबतक उसकी सूक्ष्मता और व्यापकता बढती ही जाती है। इस प्रकार अर्चिमार्गसे गई हुई वह आहुति सूर्य मण्डलमें, जो प्राणों का केन्द्र है, उसमें पहुंचकर अपने केन्द्रसे पुनः पृथिवीकी ओर गति प्रारम्भ करती है। उस समय पृथिवीस्थ अपान उस प्राणयुक्त तत्वको अपनी ओर आकृष्ट करके अपने गर्भमें धारण करके अनेक प्रकारसे अन्नतः ऐश्वर्योंसे समृद्ध होकर प्राणापानरूपी सहायुता, सदाजागरूक, अग्नियोंसे युक्त होकर पार्थिवतत्वों एवं अन्न जलादिमें जीवनका निर्माण करता है।

धूम्रमार्ग— धूम्रमार्गसे चन्द्रलोकतक पहुंचकर वही आहुति सोमसे संयुक्त हो कर पुनः पृथिवी पर व्याप्त हो जाती है और अन्न, जल, औषधि, वायु, आदिसे संयुक्त होजाती है। इस प्रकार पृथिवीस्थ एवं अन्तरिक्षस्थ तत्व, इन्द्र और सोम शक्तिसे संयुक्त होकर बल, पराक्रम एवं जीवनरस सबको प्रदान करते हैं।

जीवन-मरण-मोक्ष— इस क्रमसे पार्थिवतत्वोंमें अपानके आकर्षण एवं बलसे प्राण एक केन्द्रमें स्थित होकर, अपनी स्थितिसे वस्तुजातके जीवनको प्रकट करता है। अपान प्राणके तेज एवं बलसे स्वयंको पुष्ट करता रहता है। यदि वह अपान प्राणके समस्त तेजको हर लेता है तो अपानकी वृद्धिसे मर्त्यभावमें वह तत्व परिणत हो जाता है। जीवन एवं मृत्यु, प्राण एवं अपान ये दोनों एक ही पंचतत्वात्मक पिण्डमें दो पृथक्-पृथक् ध्रुवस्थानीय होकर जीवनमरणका चक्र चलाते रहते हैं। इस क्रममें जब प्राण अपानको अपनेमें आत्मसात् कर लेता है तो जीवनसे मोक्षकी स्थिति हो जाती है।

प्राणकी साधना— इस जीवनमें हमें मोक्षकी साधना करना है अतः " पृथिव्यसि " के दोनों क्रमोंको यथार्थरूपमें समझना चाहिये और उनका यथार्थदर्शन करके मोक्षके मार्गके अवलम्बनार्थ- " पृथिव्यसि " से विस्तृत धर्मका ग्रहण करते हुए प्राणमार्गका अवलम्बन करना होगा। पार्थिवरूप अपानको सूर्यरूप प्राणमें विलीन करनेके लिये इस पृथिवीपर अपानकी साधना नहीं करनी होगी। अपितु यज्ञोंसे प्राणकी साधना करनी होगी। अतः " पृथिव्यसि "

का विस्तृत धर्म, अर्थ ही प्रधानरूपसे ग्रहण करना होगा और उसके अनुसार यज्ञानुष्ठान करना होगा। तभी हमारा भी कल्याण होगा। अन्यथा नहीं।

अन्तरिक्ष— पृथिवी अन्तरिक्षको भी कहते हैं। अतः यज्ञ अन्तरिक्ष स्थानीय होकर सर्वतः विस्तृत होता हुआ अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओंका हविद्वारा पोषण भी करता है अतः– "पृथिव्यसि"– इस वेदवाक्यको सर्वतः सार्थक कर रहा है।

मातरिश्वनो घर्मोऽसि

घर्मः यज्ञः (निघण्टु)

वह यज्ञ जो वसु संज्ञक है, पवित्र है, विद्या एवं विज्ञान-का हेतु है और वायुके साहचर्यसे सर्वत्र फैलनेवाला है, वह– "मातरिश्वनो घर्मोऽसि"– वायुका भी शोधन करनेवाला है। अन्तरिक्षमें जो श्वसन क्रिया वायुकी आदान-प्रदान क्रिया होती है, इससे मातरिश्वा वायुका नाम है। घर्म, तेज, तपनको कहते हैं। तपनसे शोधन क्रिया होती है। यज्ञ वायुमें घर्म, तपन, तेज, दीप्तिको उत्पन्न करता है। वायुमें दीप्ति एवं तपनसे गति उत्पन्न होती है और अन्तरिक्षमें वायुकी श्वसन क्रिया बलवती हो जाती है। अन्तरिक्षमें श्वसन क्रियाकी वृद्धिसे अर्थात् वायुके आघात प्रत्याघातसे, आकर्षण एवं विकर्षणसे बल, शक्ति एवं गति उत्पन्न होने लगती है। उस मातरिश्वा वायुके सम्पर्कसे अन्तरिक्षस्थ एवं पृथिवीस्थ पदार्थोंमें भी गति एवं शक्ति उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार मातरिश्वा वायुके घर्मसे विश्वमें महाप्राणका संचार होने लगता है। यही घर्मयज्ञ है।

घर्मः अग्नितापयुक्तः शोधकः (महर्षि दयानन्द)

मातरिश्वा वायुमें घर्मकी उत्पत्ति सृष्टियज्ञसे होती रहती है। परन्तु हम भी अपनी इच्छा एवं सामर्थ्यसे परिस्थितिके अनुसार अग्निहोत्रादि रूप यज्ञोंसे घर्मको उत्पन्न करके वायु द्वारा अन्तरिक्ष एवं पृथिवीको शुद्ध तथा पवित्र कर सकते हैं। जिस प्रकारके प्रयोगकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके यज्ञके द्वारा घर्मको उत्पन्न करके मातरिश्वा वायुको उससे संयुक्त कराकर पृथिवी एवं अन्तरिक्षको पूर्ण किया जा सकता है।

घृ क्षरणदीप्त्योः। (धातुपाठ)

घर्म तीन हैं। पृथिवी स्थानीय अग्नि-घर्म है। अन्तरिक्ष स्थानीय मातरिश्वा वायु-घर्म है और द्यु स्थानीय सूर्य भी घर्म है। तीनों घर्मोंसे क्षरण, करनेकी क्रिया होती है। पृथिवी स्थानीय अग्निके घर्मसे मोदका क्षरण; निर्झरण होता है। यदि पृथिवीपर अग्नि न हो तो हमारे सब व्यवहार बंद हो जावेंगे और आनन्द कल्पनाके क्षेत्रका ही विषय बन जावे। पृथिवीस्थ भोगोंकी प्राप्तिके लिये अग्नि अनिवार्य है। अतः अग्निके घर्मसे मोद-आनन्द-का निर्झरण होता है। जब सूर्य और चन्द्रके प्रकाशका अभाव हो जाता है तो अग्निकी ही दीप्तिमें, अग्निके ही प्रकाश में हमारे व्यवहार सम्पन्न होते हैं।

अन्तरिक्ष स्थानीय घर्म–वायुके आश्रयसे रहता है। उस घर्मकी न्यूनाधिकतासे ही अन्तरिक्षस्थ वातावरणमें अपेक्षासे शीत एवं उष्णता तथा गति एवं संचरणका क्षरण निर्झरण होता रहता है। शीत एवं उष्णताके निर्झरणसे वायुके घनत्व में न्यूनाधिकता होती रहती है और वायुके घर्मसे ही पृथिवीस्थ जल सूक्ष्म होकर वायुके साथ अन्तरिक्षमें समुद्र-का निर्माण करता है। पुनः वायुके घर्मसे वृष्टिका भी निर्माण होकर उसका अन्तरिक्षसे क्षरण–निर्झरण–होता है जिससे विश्वमें ऊर्ज एवं बलकी वृद्धि होती रहती है। वायुके घर्मसे उत्पन्न ऊर्ज ही इसकी दीप्ति है। इस वायुके गति और संचारसे विश्वमें प्राणका निर्माण होता रहता है और विश्वका जीवन निर्मित होता है। यही जीवनकी स्थिति वायुके घर्मका द्योतक एवं प्रकाशक होनेसे उसकी दीप्ति है।

द्युस्थानीय घर्म–सूर्य है। उसके घर्मसे समस्त विश्वमें जीवन, गति, शक्ति, तेज, प्राण एवं प्रकाशका क्षरण–निर्झरण– होता है। सूर्य स्वयं दीप्तिमान् है। तेजःपुंज है उसीके आश्रित विश्वका जीवन है। सूर्य प्राणोंका भी प्राण है। जिस प्राणके आश्रित हमारा जीवन है उसमें तीनों स्थानोंके घर्मोंके प्राणका अंश प्राप्त होता है। तीनों घर्मोंके आश्रयसे हमारा प्राण निर्मित होता है। पृथिवी स्थानीय घर्मसे उत्पन्न अन्नसे हमारे प्राणका २६ वाँ भाग निर्मित

[देखिए पृष्ठ ४३८

नोट— किसी कारणवश इस अङ्कके पृष्ठांकोंमें भूल हो गई है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है, कि वे ४१९ पृष्ठांकके स्थान पर केवल ९ पृष्ठांक ही समझें।

—सम्पादक

पूर्ण सत्यनिष्ठ और अहिंसक

(श्री विनोबा)

*

साहित्यिक विषयोंके प्रश्नोंके उत्तर साहित्यकके पास ही होते हैं। क्योंकि वह साहित्यका निर्माण करता है। वह लिखता है।

साहित्य और शास्त्र दोनों गलत

अपने हिन्दुस्तानमें एक पुराना साहित्य-शास्त्र बना है और पश्चिममें अभी बन रहा है। पर हमारी यह धारणा है कि व्याकरणका शास्त्र बन सकता है, गणितका भी उत्तम शास्त्र बन सकता है, लेकिन साहित्य और शास्त्र ये दो चीजें गलत हैं। साहित्यिकको जो सूझता है, वह शास्त्र है। किसीकी मांकी मृत्यु पर दुःख प्रदर्शन करनेका शास्त्र नहीं हो सकता। उसको जो सूझता है, वही दुःख प्रदर्शनका तरीका है। कालिदासने शोकका वर्णन किया है। लेकिन जिसको शोक होता है, उसे वह अपने ढंगसे प्रदर्शित करता है। वह कालिदासके शोकके वर्णनसे कम नहीं होगा। गधेका गाना स्वाभाविक है और कोयलका गाना भी स्वाभाविक है। वैसे कविका लिखना भी स्वाभाविक है। गधेका गाना चाहे लोगोंको पसंद हो या न हो गधा नहीं पूछेगा कि आपको अच्छा लगता है कि नहीं। उसको स्फूर्ति होती है इसलिए वह गाता है। यही न्याय कविको भी लागू होता है। इसलिए कवि शास्त्र-चर्चामें नहीं पड़ेगा।

आनंदका उपादान अव्याख्येय

साहित्यमें यह प्रभाव है कि सब इसकी चर्चा करते समय रस, शब्द और साहित्यकी चर्चा करनी होगी। इन तीनों शब्दोंकी महीनोंतक चर्चा चलनेपर भी निर्णय नहीं होगा। हरिश्चन्द्रका नाटक चल रहा है। करनेवाला बेचारा नाटक कर रहा है। लेकिन देखनेवाला कहता है कि नाटक फीका है। उसमें करुण रसका पूरा परिपाक नहीं हुआ। करुण रस पूरा नहीं हुआ, तो अच्छा है। उतनी सुननेवालेको कम तकलीफ होगी। अन्न पचन अच्छा होगा। उसमें अगर करुण रस अच्छा होता, तो आपका अन्न पचन नहीं होता। नाटकमें करुण रसका परिपाक नहीं हुआ। ऐसा कहते हैं। उनको करुण रससे आनंद आता है। इसलिए मनुष्यको किस चीजसे आनंद प्राप्त होता है, इसकी व्याख्या नहीं हो सकती।

एकाग्रतामें आनंद

हम समझते हैं कि मनुष्य जिस किसी चीजमें एकाग्र हो सकता है, उसमेंसे आनंदानुभूति होती है। किसी चीज पर पूरी एकाग्रता हो जाय तो आनंद होता है। जैसे गाढ निद्रा आयी तो आनंद आयेगा। निद्राका नाटक करनेपर रस नहीं होता। निद्राका नाटक याने निद्रामें अनेक प्रकारके स्वप्न देखना। वह ढोंगी निद्रा है, उसमें आनंद नहीं। आनंद गाढ निद्रामें है। क्योंकि उसमें पूरी एकाग्रता होती है। बच्चे खेलनेमें एकाग्र होते हैं। खेलके साथ उनमें इतनी एकाग्रता होती है कि उनको भूख लगती है, मां उनको बार-बार बुलाती है, फिर भी वे नहीं आते। कहेंगे कि 'अभी आया, अभी आया'। लेकिन घण्टा आधा घण्टा बीत जानेपर भी बच्चा नहीं आता। भूख लगी है लेकिन उसको उसका भान नहीं, क्योंकि वह एकाग्र है।

अब यह सवाल है कि जिसमें आनंद आता है उसमें एकाग्रता होती है कि जिसमें एकाग्रता होती है उसमें आनंद आता है? हमको यही सोचना है कि एकाग्रतासे आनंदानुभूति होती है कि आनंदानुभूतिसे एकाग्रता होती

है। उसका निर्णय अनुभवसे किया जायेगा। बच्चेकी खाते समय एकाग्रता होती है। उस समय उसकी बिलकुल समाधि लग जाती है। समाधिमें और बच्चेके लड्डू खानेमें फरक नहीं। लड्डूके सामने बच्चेके लिए दुनिया कोई चीज नहीं है। उसमें उसकी आनंदानुभूति है। वह आनंद उस एकाग्रतामें है कि भूखमें है कि आमका रस खानेमें है कह नहीं सकते। रसका स्थान कौन-सा है। इसे ठीक कहना मुश्किल होगा। उसका निर्णय नहीं कर सकेंगे। मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं, कि जिनको आम नहीं भाता और ऐसे भी देखे हैं कि जो आमका रस खानेमें बिलकुल एकाग्र हो जाते हैं।

साहित्यका बाह्यरूप हृदयस्पर्शी

अब यह सवाल आयेगा कि मनुष्य दुःखमें भी एकाग्र होता है? तीव्र दुःखके समय मनुष्यको उसके दुःखके सिवाय और कुछ नहीं सूझता। दुःख उत्कट होना चाहिए। मामूली दुःखको कौन पूछेगा? अब उसमें आनंदानुभूति है या नहीं यह सवाल है? तीव्र दुःखकी उत्कटतामें मस्ती है। जोरदार बुखारमें मस्ती है। बुखार उतरते समय मनुष्य कमजोर पड़ता है, ढीला पड़ता है। लेकिन बुखारमें मस्ती है। वैसे तीव्र दुःखमें भी मस्ती है। फिर सवाल आयेगा कि दुःख किस प्रकारका? यानी किस प्रकारके दुःखमें आनंद आता है। दुःखको कर्तव्य माननेपर उससे होनेवाली पीड़ामें मस्ती है। अगर दुःखका कारण ऐसा हो कि जिसके कारण आत्मा प्रतिष्ठित होती है, फिर उसमें काव्य लिखा जायेगा तो यह कहना कठिन है कि उसमें रस है या तत्त्व है। दोनों इतने मिले जुले हैं कि निर्णय करना कठिन है। रस नाम दिया तो समझ सकते हैं, तत्त्व नाम दिया तो शुष्क होगा। क्योंकि रसको तो सब समझते हैं। इसलिए इसका अर्थ करना मुश्किल होगा। क्योंकि हरेक मनुष्य अपने ढंगसे अर्थ लगाता है।

राम-नाममें रस आता है। राम नाम गानेमें भक्तको मद मालूम होता है। सांसारिकको संसारमें मद लगता है, बच्चोंको खेलनेसे मद होता है और देशभक्तको फांसी पर लटकनेमें आनंद होता है। ऐसे भी मनुष्य हैं कि जिन्हें कल फांसी पर लटकना है, फिर भी वे रातभर आनंदका अनुभव करते हैं। ऐसे लोग दुनियामें हो गये हैं। उनके चित्तमें निष्ठा थी। इसलिए उनको दुःखमें सुखानुभूति हुई। सुखानुभूति होनी चाहिए। चाहे दुःखजन्य हो चाहे सुखजन्य, कोई भी कारण हो लेकिन अनुभूति आनंद की है। हम समझते हैं कि साहित्यका आत्मा ढूंढनेवाला ढूंढे। लेकिन बाह्य रूपको दुनिया मानेगी। उसका बाह्य आविष्कार लोगोंके हृदयको छूता है।

फिर प्रश्न होता कि साहित्य बुद्धिको छूता है कि हृदयको? हम इसका निर्णय नहीं दे सकते हैं। बुद्धिको छूयेगा तो तत्त्व होगा। हृदयको छूएगा तो रस होगा। अगर बुद्धि और हृदय दोनोंको छूता है तो दोनों होगा। तो अभी तक इस चर्चामें हमने क्या पाया? एक तो यह कि एकाग्रताकी अनुभूति होनी चाहिए। यानी एकाग्रताकी अनुभूति आवश्यक है। एकाग्रताके बाद आनंद होता है कि दुःख यह सवाल है? उसका उत्तर है कि आनंद भी होता है और दुःख भी होता है।

आनंदकी थकानसे दुःख--निर्मिति

कुछ एकाग्रता ऐसी है कि उससे तकलीफ होती है। समाधि लगनेपर उसमें पूरी एकाग्रता होती है। उसके उतर आनेके बाद मनुष्यको बड़ी तकलीफ होती है। उसमें आनंद आया, लेकिन वह आनंद तकलीफदायी हुआ। समाधि उतरनेके बाद मनुष्य ढीला पड गया। इस तरह आनंदकी भी कभी-कभी थकान होती है। इस आनंदकी थकानसे दुःख-निर्मिति होती है। जैसे दुःखमें आनंद होता है वैसे आनंद सौम्य न रह कर तीव्र रहा, उसका हमला हुआ तो उससे भी दुःख निर्मिति होती है। आजकल लोगोंको तरह-तरहके आनंद दिये जाते हैं। वे उन्हें बिलकुल टोर्चर करते हैं, सताते हैं। वह सौम्य आनंद नहीं। इसलिए सतत रहनेवाला सौम्य आनंद होना चाहिए। आनंद तीव्र रहा तो तकलीफ होगी। तो आनंद भी कौनसा अच्छा है? जो सौम्य है और सतत रहता है वह आनंद अच्छा है। थोड़ा हो और तीव्र हो तो वह अच्छा नहीं। आनंद ऐसा हो कि उसकी भी थकान न हो। इसलिए मैंने स्थित-प्रज्ञ दर्शनमें लिखा है कि ध्यान समाधिकी भी थकान होती है। मैं आपसे पूछूंगा कि आप साहित्य लिखते हैं तो इससे आपको थकान आती है कि नहीं। कितना भी लिखो थकान नहीं और लिखते ही जाओ।

लेकिन ऐसा लगता है कि अब थक गये। तो सलाह दूंगा कि बिलकुल थकान आने तक मत जाओ। जहां तक आनंद महसूस होता है वहांतक ही जाओ। इसलिए बड़ी-बड़ी किताबें लिखनेका आग्रह न रखें और छोटी ही लिखें। ऐसी बड़ी किताबें पढ़नेमें रस नहीं आता।

साहित्यमें रस व्यक्त और तत्व अव्यक्त

साहित्यिक दूसरेको तकलीफ नहीं देगा, वह सहज भावसे अपने विचार देगा। वह अपने वे विचार तकलीफ देकर नहीं समझायेगा। जैसे कमान्डर एकदम आज्ञा करते हैं, धर्मग्रन्थ आज्ञा करते हैं। 'दाऊ शैल नोट स्टील' यह हुई धर्मग्रन्थकी आज्ञा। फिर भी चोरी करनेवाले चोरी करते हैं। सैन्यके भी आदेश होते हैं। ये हुक्म हुए। कविका या साहित्यिकका यह लक्षण नहीं, वह कमांडरका लक्षण है। फिर चाहे वह फौजका हो या धर्मग्रन्थका हो। कवि या साहित्यिक समाजको रिझाकर बोध देगा। इसलिए साहित्यमें रस रहेगा प्रत्यक्ष और तत्व रहेगा अव्यक्त। तत्व प्रत्यक्ष रहेगा तो वह तत्वज्ञानका ग्रन्थ होगा। उसे पढ़ते-पढ़ते तकलीफ होगी। जैसे तत्वज्ञानके ग्रन्थको पढ़नेसे होती है। साहित्यमें तत्व न रहनेपर वह ग्रन्थ पोला होगा। इसलिए तत्व चाहिए, लेकिन अव्यक्त चाहिए। भगवान् व्यक्त है कि अव्यक्त? व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। विविधतामें वह व्यक्त रहेगा। अगर रस न रहा और तत्व रहा तो वह साहित्यकी किताब न होकर स्मृति-ग्रन्थ होगा। स्मृति ग्रन्थके अनुसार लोग आचरण करते हैं लेकिन वह काव्य नहीं होगा।

सच्चाईसे साहित्य-निर्माण

मैं साहित्यिककी व्याख्या यह करता हूं कि साहित्यिक पूर्ण सत्यनिष्ठ और अहिंसक होगा। सत्यनिष्ठ यानी अपनी अनुभूतिको छोड़कर वह अपनी बात नहीं कहता। अपने हृदयके साथ सच्चा होता है। जो चीज उसको ठीक लगती है वह लिखता है। किसी चीजमें गलती मालूम होनेपर उसे छोड़ देता है। इसलिये उसमें पूरी सच्चाई होती है। अभी दुनियामें क्या हो रहा है? सच्चे लोग बहुत थोड़े हैं। अच्छे ज्यादा हैं, बुरे थोड़े हैं। यह विशेष बात बतायी। सच्चे बहुत थोड़े हैं। जो अच्छे हैं, वे ढोंगी अच्छे है और जो बुरे हैं वे सच्चे बुरे नहीं हैं। खुले बुरे कौन हैं? जो बुराई करते हैं, लेकिन खुले आम करते हैं। वे खुले बुरे हैं। आज बुराई करते हैं लेकिन उसको ढकते हैं। सच्चे भले कौन हैं, जो समझकर अनुभूतिसे भलाई करते हैं। लेकिन आज जो अच्छे हैं, वे भयसे अच्छे हैं। अगर कोई सच्चाईके साथ बुराई करता है, तो वह सच्चा बुरा है। लेकिन आज सच्चे बुरे नहीं। भले लोग भी सच्चे भले नहीं। वे भी भलाई करेंगे तो सोच-सोच कर करेंगे। भलाई उनके अन्दरसे नहीं आती। दुनियामें जो अच्छे हैं उनमें बहुत थोड़े सच्चे अच्छे हैं। जो बुरे हैं उनमें बहुत थोड़े सच्चे बुरे हैं। अच्छे लोग ज्यादा हैं और बुरे कम हैं। अच्छोंमें सच्चे कम हैं और बुरोंमें सच्चे बहुत कम हैं। कुल मिलाकर सच्चे लोग बहुत कम हैं। साहित्यिक सच्चा होता है।

वह शराब पियेगा तो खुले आम पियेगा। एक बार मैंने शराब पर व्याख्यान देते समय कहा कि शराब पीनेसे क्या क्या बुराइयां होती हैं? उसके बाद हमें एक व्यक्तिने लिखा कि 'आपने शराब पर व्याख्यान दिया, लेकिन आपने कभी शराब भी पी है? पहले शराब पीकर तो देखो, फिर व्याख्यान दो। शराब पीनेसे क्या बुराइयां होती हैं वे आप कहां जानते हैं? मैं शराब पीता हूं और जिंदगी भर पीता आया हूं। मुझे उसका अनुभव है तो मैं उस पर व्याख्यान दे सकता हूं। लेकिन तुम व्याख्यान दोगे तो किस तरह दोगे। क्या तुम्हें उसका कुछ अनुभव है?' उस दिनसे मैंने शराब पर व्याख्यान देना छोड़ दिया। उसका कहना ठीक था। समाधि पर व्याख्यान देता हूं तो अच्छा है। क्योंकि उसका अनुभव है। लेकिन शराबका कहां अनुभव है? जब उसने मुझे यह लिखा तबसे मैं चुप हो गया। बात सही है। उसने लिखा था कि 'मैं जिन्दगीभर शराब पीता आया हूं लेकिन मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ। हर चीजमें मर्यादा रखनी पड़ती है। शराब पी तो भी मर्यादासे पीनी चाहिए तो नुकसान नहीं।' यह जो खुलेआम कहता है वह सच्चा शराबी है। जो बुरे लोग होते हैं वे भी सच्चे बुरे हो सकते हैं। मैं मानता हूं कि सच्चाईके बिना साहित्य नहीं हो सकता।

साहित्यिकका सामनेवालेके चित्त पर असर

जो अपने हृदयकी अनुभूतिके साथ निष्ठावान् नहीं होता। उसके मुंहसे निकलनेवाला शब्द ज्ञानवान्, प्राणवान्

नहीं होता। साहित्यिकका जन्म अनुभवशील और अभ्यास-यमशील होना चाहिए। किसीको भी पता नहीं लगना चाहिए कि वह क्या कह रहा है? उसका बोध दुनिया तक सूक्ष्मरूपेण पहुँचेगा और उसका हृदय पर असर होगा। वह असर कैसे होगा? कोई कहेगा कि इसका अर्थ इस तरह है, कोई कहेगा इसका अर्थ उस तरह है। अलग अलग अर्थ होंगे। हम महाभारत पढते हैं तो पता नहीं चलता कि मुख्य पात्र कौन है? मुख्य पात्र कृष्ण है कि भीष्म है, दुर्योधन है कि अर्जुन है, युधिष्ठिर है कि कर्ण है, द्रौपदी है कि गांधारी है कुछ कह नहीं सकते। इतने सब ध्यान खींचते हैं। इतने आकर्षक पात्र खडे कर दिये हैं। किसी दूसरे उपन्यासमें ऐसा नहीं होता। रामायण भी ऐसा ही है। उसमें भी दूसरे पात्र हैं जो चित्त खींचते हैं। लेकिन उसमें राम ही एक है, इसमें शक नहीं होता। भारतमें जो कथा है वह रामायणमें नहीं। भारत कृष्णायन नहीं, पाण्डवायन है। वह अपना है सो है और उसका हरेकके चित्त पर असर होता है। उत्तम साहित्यिक और कवि सामनेवालेके चित्त पर असर करेगा। और असर डालते हुए गुण वृद्धि होनी चाहिए।

मैंने सुना कि आप भूदानके लिए कुछ उपन्यास लिख रहे हैं। सुनकर मैंने कहा कि अगर यह होगा (कि भूदानके लिए लिख रहे हैं) तो साहित्य खतम है। अपनी अनुभूतिसे, जीवनकी अनुभूतिसे लिखो और ऐसी कुशलतासे लिखो कि बाबाको भी पता न लगे, कि, यह भूदानके लिए लिखा गया है। फिर दूसरेका सवाल ही नहीं आता। जो साहित्य भूदानके लिए लिखा जाये वह भूदानके लिए तो हो ही, लेकिन दूसरेके और कामके लिए भी काम आये ऐसा होना चाहिए।

साहित्य और तत्वज्ञानमें अन्तर

सत्यको साहित्यमें ऐसा स्थान न हो कि वह पहले पन्नेमें प्रकट हो। जैसे शांकर भाष्यमें है। उसमें पहले सात-आठ पन्नेमें ही तत्व कह दिया। उसे उतना पढना ही बस है। आगे पढो न पढो। पहले सात-आठ पन्नेमें सब आ जाता है। जिस किसीको अद्वैतका खंडन करना है, उसको उन्हीं पन्नोंका खंडन करना चाहिए। बाकी सारा तो विस्तार है। मैंने कई विद्वानोंको कहा, जिन्होंने कि शांकर-भाष्यका खंडन किया है, उसमें पहले सात-आठ पन्नोंका खंडन है या नहीं? उनका खंडन होगा तो कुछ खंडन हो सकता है। उसमें सारा तत्व कह दिया है कि सारी सृष्टि अध्यास है। यह नया शब्द निकाला। लोकमान्यने 'गीता रहस्य' में कर्मयोग बताकर शांकर भाष्यपर बहुत टीका की। लेकिन उससे शांकर विचारका खंडन नहीं हुआ, क्योंकि उसका जो मूल अध्यास है, उसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। फिर बाकी दूसरी बातोंका खण्डन करने पर भी शांकर भाष्यका खंडन नहीं होता। सार यह है कि शांकर भाष्यमें सात-आठ पन्नेमें सारा रहस्य आ जाता है। यह है तत्वज्ञानकी पद्धति। पहले समग्र चित्र और फिर उसका विवरण। साहित्यमें ऐसा नहीं। साहित्यमें आखिरके पन्नेतक पता नहीं चलता कि क्या कहना चाहता है? ऐसा भास जब होगा तब वह उत्तम साहित्य होगा। उसमें तत्व छिपा हुआ है, साफ प्रकट नहीं। पढनेवाला बढते चला आ रहा है और पढता चला आ रहा है। उसको तकलीफ नहीं होगी।

साहित्य टू आर्डर नहीं होता

जब आपने पूछा कि क्या चीनी आक्रमण जैसे संकट-कालमें इसके अनुकूल साहित्य निकलना चाहिए? यानी साहित्यिकको कहा जाय कि वह वैसा साहित्य निकाले। क्या यह हो सकता है? साहित्य 'टू आर्डर' नहीं होता। अभी चीनका आक्रमण हो रहा है, तो उनके खिलाफ ऐसा साहित्य तैयार हो। जिसे पढकर हर भाई बहनकी ऐसी इच्छा हो कि हम हाथमें बन्दूक लेकर देशकी रक्षाके लिए निकल पडें। साहित्यिक इस तरह नहीं करेगा। साहित्यिकका लक्षण यह है कि वह अव्यक्तरूपेण बोध देगा और ऐसी भावना पैदा करेगा कि उससे चीनका मसला हल होगा, लेकिन उससे दूसरे मसले भी हल होंगे।। लेकिन जमानेकी मांग है, इसलिए लिखने बैठो, तो मुझसे नहीं लिखा जावेगा। उस उद्देश्यके लिए ही लिखूं यह नहीं हो सकता। ऐसी विशिष्ट दृष्टि लेकर विचारको बांधनेकी कोशिश नहीं होसकती। साहित्यिक बांधा नहीं जा सकता। इसलिए शांकर भाष्यको समझना आसान है। लेकिन तुलसीदासकी रामायण समझना कठिन है। वह द्वैत है कि अद्वैत है कि विशिष्टाद्वैत है इसका निर्णय करना कठिन है।

उसमें भक्ति मार्ग है, ज्ञानमार्ग है कि नीतिमत्ता है इसका निर्णय नहीं कर सकते। किसपर भार देना चाहते हैं उसका कुछ निकाकर अन्दाजा नहीं लगता। इसका अन्दाजा करें तो वह तत्त्वज्ञानका ग्रन्थ होगा काव्य नहीं। यह अन्दाजा कबीरमें लगता है। उसने गूढ़ भाषा भले ही लिखी है, लेकिन उसका अर्थ स्पष्ट होता है। वह इसमें तुलसीदासकी बराबरी नहीं कर सकता। कोई अगर पूछे कि तुलसीदासने क्या लिखा है तो तुलसीदास भी कहेगा कि मुझे मालूम नहीं। वह खुद भी जानता नहीं। अनेक संतोंके ग्रन्थ ऐसे होते हैं। तुलसीदास-तुकारामके ग्रन्थ ऐसे ही हैं कि कुछ निर्णय करना कठिन होता है। इतनी भावनाओंकी छटाएं होती हैं, विविधता होती है कि कविका काव्य द्वैत कहता है कि अद्वैत कहता है कि विशिष्टाद्वैत निश्चय नहीं कर सकते। फिर हमको कहते हैं कि तुकाराम के भजन आप सार्ट कीजिये। सार्ट करते हैं तो एक पद भी ऐसा नहीं जिसको हम पूरी तरहसे सार्ट कर सकते हैं। क्योंकि वह अनुभूतिकी चीज है और उसमें आनंदकी उपलब्धि होती है।

साहित्यका परीक्षक- काल

मेरी एक और कसौटी है। बहुत लोग संगीत गानेवाले होते हैं। बहुत संगीत गाते हैं उसमें अगर हमको रस नहीं आया तो वे हमको अरसिक कहते हैं और कहते हैं कि एप्रीशिएशनके लिए सामने ट्रेन्ड इयर (कान) चाहिए। सूर्य उगा तो उसके सौंदर्यको ग्रहण करनेके लिए ट्रेंड आंखकी जरूरत नहीं होती। इसी तरह सुन्दर संगीत हो तो उसके लिए ट्रेन्ड इयरकी क्यों जरूरत होनी चाहिए? सुननेवालेको आकर्षण नहीं हो रहा है तो आपकी कलामें कमी है। बजाय इसके कि 'कान ट्रेंड नहीं है' कला ऐसी होनी चाहिए कि वह स्वभावतया लोगोंका ध्यान खींचे। इस लिए कहा है कि 'इन सायन्स दी मोडर्नेस्ट एण्ड इन लिटरेचर दी ओल्डेस्ट' अर्थात् आजकी सायन्सकी किताब है तो एक महीने पहलेकी किताब काममें नहीं आयेगी। आजकी किताब ही कामकी होगी। लेटेस्ट किताब होनी चाहिए। साहित्य जितना पुराना होगा उतना अच्छा। इसलिए कहा गया कि साहित्यकी परीक्षा काल करता है। अगर साहित्यमें सार नहीं होगा तो कौन पढ़ेगा। लेकिन हजार साल हुए तो भी किताब चली तो उसका मतलब है कि काल पुरुषने परीक्षा कर ली।

साहित्यमें शाश्वत--अशाश्वत दोनों अंश

अब साहित्यमें शाश्वत अंश और अशाश्वत अंशको कौनसा स्थान हो यह सवाल है? कोई कहेगा कि मैं शाश्वत अंश-को प्रधान करके लिखूंगा और अशाश्वतको कीमत नहीं दूंगा। तो वह स्केलेटन होगा-उसमें खून या मांस नहीं रहेगा। इसलिए अशाश्वत और शाश्वतका झगड़ा साहित्यमें नहीं होता। यदि दोनोंको वह समानरूपसे लेता है और वर्णन करता है तो आजके समाजके लिए वह उपयोगी होगा और आगेके लिए भी उपयोगी होगा। क्योंकि आगे भी तत्समान परिस्थिति हो सकती है। जिस जमानेमें हेमलेट लिखा गया तब लेखकके मनमें शायद कोई राजनैतिक घटना होगी। वह घटना आज नहीं, फिर भी आज हेमलेट सबको आकर्षित करता है। उसमें अशाश्वत होगा, लेकिन शाश्वतका भी विचार है।

दुनियामें दो सर्वज्ञ

शाश्वत दो प्रकारका होता है। एक शाश्वत अशाश्वत है और दूसरा अशाश्वत अशाश्वत है। अशाश्वत अशाश्वतका नमूना अखबार है। कलका अखबार आज कामका नहीं। कलका कल खतम होगया। हेमलेटमें अशाश्वतका जो अंश है वह शाश्वत अशाश्वतका है। उसके अलावा उसमें शाश्वत तत्व भी है। दोनोंका समान भाव रहेगा। साहित्यके देवता गणेश हैं। वह साहित्यका रूपक है। उस गणेशके दो गंडस्थल रहते हैं। ज्ञानदेवने कहा है कि वे दो गण्डस्थल 'द्वैत अद्वैता सरिसे समान'। इधर द्वैत है और उधर अद्वैत है। एक भागमें द्वैत और दूसरेमें अद्वैत। जो एक दूसरेसे खिलाफ माने गये, उन्हें ज्ञानदेवने नजदीक रख दिये। वैसे शाश्वत और अशाश्वत दोनों हुए बिना साहित्य नहीं हो सकता। लेकिन उसमें जो अशाश्वत है वह अशाश्वत अशाश्वत न हो। नहीं तो अखबार जैसी हालत होगी। अखबारके संपादककी खूबी यह है कि वह हर बात पर लिखता है, वह सर्वज्ञ है। दुनियामें दो सर्वज्ञ हैं। एक ब्रह्मा और दूसरा अखबारका एडीटर।

सब रंगोंसे अलिप्त साहित्यिक

मुझे एक सज्जनने कहा था कि उन्होंने एक रिसाला निकाला था। वे कह रहे थे कि मैं अकेला ही लिखता

था। एक ही मनुष्यके नामसे लेख लिखते रहे तो ठीक नहीं, इसलिए अलग-अलग नाम पर लिखता था। दो-तीन महीनेके बाद लोगोंने पहचान लिया कि यह एक ही शख्स है। मैं कितना भी ढोंग करूं तो भी मैं तो मैं ही हूं। इतनी विविधता सधे कि दुनियाको पता ही न चले यह नहीं बन सकता। वह तो ईश्वरको ही सधा है। एक ही ईश्वर पचास नाटक करता है। साहित्यिकके जो अपने शब्द हैं उससे वह पकडा जायेगा। मैं सर्वोदयवालों-को हमेशा कहता हूं कि तुम्हारे सौ डेढ सौ शब्द हैं, उतने छोडकर लिखो फिर अगर तुम लिख सकते हो तो तुम लेखक हो। साहित्यिक अगर किसीकी पकडमें आ जाय कि इसके फलाने-फलाने शब्द हैं तो वह खतम हुआ। जब विविध कल्पना सृष्टि होती है तब साहित्य बनता है। इस-लिए साहित्यिक द्रष्टा है। किसी रंगसे रंगा हुआ नहीं। किसी रंगसे रंगा हुआ है तो सृष्टिको न्याय नहीं दे सकेगा। अगर वह खुद रंगा हुआ है तो दुनियाके रंगोंको नहीं सम-झेगा। क्रिकेट खेलनेवाला नहीं समझता कि क्या हो रहा है? इसलिए जिससे वह रंगा उसको वह न्याय नहीं दे सकता और दूसरोंको भी न्याय नहीं दे सकता। इसलिए सब रंगोंसे अभिमुख होकर भी अलिप्त होना चाहिए। जो अलग है वह साहित्यिक होगा।

साहित्यिककी संन्यस्त दृष्टि

विरक्त होकर अलग मुंह करना, मुंह दूसरी बाजू रखना एक शक्ति है। वह बहुत कठिन नहीं। आसक्त होना सबको सधा है, इसलिए वह कठिन नहीं। उसमें तकलीफ बहुत है, लेकिन कठिन नहीं। आसक्त होनेमें इतनी तकलीफ है कि मेरा जी घबराता है। वह तकलीफ बरदाश्त नहीं हो सकती इसलिए मैं अलग रह रहा हूं। साहित्यिककी दृष्टि संन्यस्त है। वह सबका नाम ले सकता है, लेकिन सबसे अलग रहेगा। यह केवल व्यासको सधा था। व्याससे बढ-कर अधिक कलावान् साहित्यिक मैंने नहीं देखा। रामायणमें भी कला है लेकिन वह सब प्रकारसे प्रकट है। भारतमें ऐसा नहीं। कोई अन्दाजा नहीं लगा सकता कि कृष्ण कब क्या आदेश देगा? कौन कह सकता है कि धर्मराज मौके पर झूठ बोलेगा? जगह जगह पात्रोंसे ऐसी कृतियां कराई हैं कि उनका अन्दाजा नहीं हो सकता। अत्यन्त प्रौढ पात्र अत्यन्त दीन होते हैं, और अत्यन्त दीन पात्र अचानक प्रौढ होते हैं। गुणवान् मौके पर अवगुणी होता है और अवगुणी गुणवान् होता है। भरोसे लायक कौन है? प्रतिज्ञा करके तोडनेवाले भी हैं। 卐 卐 卐

वैदिक ज्योतिःशास्त्र

मूल अंग्रेजी लेखक-
श्री आर. के. प्रभु

अनुवादक-
श्रुतिशील शर्मा

आजसे हजारों वर्ष पूर्वके बेबीलोनिया, मिश्र, ईरान, भारत, चीन, माया और दूसरे देशोंमें रहनेवालोंके द्वारा प्रतिपादित ज्योतिषशास्त्रके सिद्धान्तोंकी सत्यताने आजके इतिहासज्ञोंको आश्चर्यान्वित एवं भौंचक्का कर दिया है। उन्हें आश्चर्य इस बातका होता है कि उन्होंने सूर्य, चन्द्र और तारोंकी गतिका इतना यथार्थ ज्ञान किस तरह प्राप्त किया, जब कि उनकी गतिके पता लगानेवाले दूरबीन आदि साधन फिलहाल ही बने हैं। यद्यपि कुछ इतिहासज्ञोंने इस बातकी भी कोशिश की कि वे इन प्राचीन विद्वानों द्वारा ज्योतिषशास्त्रके संबंधमें प्राप्त किए हुए ज्ञानकी असत्यता सिद्ध करें, पर वे अपने इस कार्यमें सफल नहीं हो पाये। तब इस रहस्यका, कि उन्होंने ज्योतिःशास्त्र विषयक इतना यथार्थ ज्ञान किस तरह प्राप्त किया, समाधान क्या है?

मेरे विचारमें यह रहस्य प्राचीन सभ्यता पर खोज करनेवालोंके लिए एक रहस्य ही बना रहेगा, जब तक कि वे आधुनिक सभ्यताके मूल स्थानका पता नहीं लगा लेते। अर्थात् जबतक वे इस बातका पता न लगा लें कि आधुनिक सभ्यता किस प्रकार और किस स्थानसे निस्सृत हुई, तबतक वे इस रहस्यका समाधान नहीं पा सकते। इस सभ्यताके प्राचीनतम मूलस्थानके विषयमें ऐतिहासिक विभिन्न मत रखते हैं। "इण्डो आर्यन" भाषाभाषी लोग प्राचीनोंमें सभ्यताकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। पर अभीतक इन लोगोंके मूलस्थानका निश्चय नहीं हो पाया। कुछ विद्वानोंके मतमें रूसका कुछ भाग, जर्मन पोलेण्डके मैदान और ऑक्ससके प्रदेश ही इन प्राचीनोंका मूलस्थान है। पर यह मत कई ऐतिहासिकोंको मान्य नहीं है। इससे कुछ आगे बढकर आर्थर कीथने कहा है कि- "प्राचीन सभ्यताकी खोज करते समय किसी एक घाटीतक सीमित रहनेसे हमारा काम नहीं चल सकता, अतः हमें यह मानना पडेगा कि दक्षिण पश्चिमी एशियाके प्रदेशमें अर्थात् पूर्वमें भारतसे लेकर पश्चिममें भूमध्यसागरतक वे प्राचीन लोग निवास करते थे।" प्राचीन सभ्यताके विषयमें खोज करनेवालोंके सामने इस सभ्यताके मूलस्थानको खोजनेमें कठिनाइयां इसीलिए आती हैं कि उस सभ्यताके समय निर्धारणकी सीमा ही उन्होंने गलत आंकी है। भारतके मामलेमें ही देखा जा सकता है। मोहन-जोदडोकी खुदाईने भारतीय सभ्यताको आजके इतिहासज्ञों द्वारा निर्धारित किए समयसे भी दो हजार वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। मिश्रमें सर फ्लिण्डर्स पेट्रीके द्वारा की गई खुदाईने मिश्रकी सभ्यता ई. पू. ११००० वर्ष पुरानी सिद्ध की है।× पर्शियन कलाकी अमेरीकी संस्थाके निर्देशक श्री डॉ. आर्थर उफम पोपके अनुसार ईरानकी सभ्यता ईसा पूर्व ८००० और ५००० वर्षके बीचमें शुरू हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि मुख्य प्रश्न कि आजकी सभ्यताका मूलस्थान कौनसा है, अभीतक जैसेका वैसा ही बना हुआ है। मेरे विचारमें तो 'पेराडाइज फाउण्ड' + के रचयिता डॉ. डब्ल्यू. एफ्. वारेनके द्वारा प्रतिपादित व श्री लोकमान्य तिलक द्वारा अनुमोदित "उत्तरी ध्रुव" का

× दि ग्रेफिक-लन्दन, जुलाई १९; १९२४

+ "पेराडाइज फाउण्ड" दि क्रेडल ऑफ दि ह्यूमेन रेस ऍड दि नॉर्थ पोल. ए स्टडी ऑफ दि प्रि-हिस्टोरिक वर्ल्ड. विलियम एफ् वारेन, लन्दन १८८५.

सिद्धांत ही हमारे इस प्रश्नको सुलझा सकता है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व यह उत्तरी ध्रुव निर्जन था और आज भी यह मनुष्योंके रहने योग्य स्थान नहीं है। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस प्रदेश पर कभी निवासी रहे ही नहीं। अब यह देखना है कि उस पर मनुष्य किस समय निवास करते थे। इस विषयमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि जमीन, समुद्र और आकाशमार्गसे पियरी, अमण्डसन, स्कॉट और शेकल्टन आदि पर्वतारोहियोंके उत्तरी ध्रुवके आरोहणसे तद्विषयक अनेक ज्ञान हमें प्राप्त हो चुके हैं। १९३७ में सोवियत वैज्ञानिकोंने भी उत्तरी ध्रुव पर आरोहण किया और वे वहां १ वर्ष तक बर्फ पर फिरते रहे। इन आरोहकोंके द्वारा संग्रहीत ध्रुवविषयक सूचनायें वास्तवमें वैज्ञानिक जगतमें हलचल मचा देनेवाली थीं। इन आरोहकोंको एक गर्मपानीका सोता मिला जो कि ऊपरकी सतहसे करीब १२०० फीट नीचे बह रहा था।

उन्होंने यह भी पाया कि वर्षमें कुछ निश्चित दिनोंमें वहां इतनी गर्मी हो जाती है कि जितनी गर्मी उन दिनों इंग्लैण्डमें भी नहीं होती। उन दिनों गर्मीके कारण उस ध्रुवपर बर्फ भी कम हो जाती है ●। पर इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, क्योंकि आज प्रायः यह सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि ध्रुवोंपर सूर्यकिरणें वक्र होनेके कारण वहां विषुवत् रेखाकी अपेक्षा ज्यादा गरमी होती है। प्रसिद्ध ध्रुवारोहक तथा 'फ्रेण्ड्ली आर्कटिक' के रचयिता श्री स्टीफेन्सनका कथन है कि 'प्रत्येक गर्मीमें अमेरिकाका मौसम कार्यालय उत्तरी ध्रुवके प्रदेशसे चार मील दूर स्थित अलास्काका तापमान ९० से ऊपर ही बताता है। वहांका अधिकतम तापमान १०० डिग्री होता है।' वह आगे लिखता है 'मैंने ध्रुवप्रदेशसे करीब १०० मील उत्तरमें एक पूरी गर्मी बितायी और ६ सप्ताहोंमें वहांका तापमान रोज ९० तक पहुंच जाता था। यह तापमान रातमें गिरता नहीं है क्योंकि उस प्रदेशमें सूर्यास्त नहीं होता, अतः रातकी ठण्डी भी वहां नहीं होती। मेरे दलके सभी सदस्योंने कहा कि वहां हमें ठण्डसे उतना कष्ट नहीं हुआ जितना कि गर्मीसे'। यदि ऐसी बातें ६०-७० वर्ष पूर्व वैज्ञानिकोंसे कही जातीं, तो वे निश्चयसे हंसी उडाते।

कतिपय भूगोलशास्त्रियोंका यह भी कहना है कि ये प्रदेश हमेशासे इतने ठण्डे और हिमाच्छादित नहीं रहे, जैसे कि आज हैं। बहुत पहले यहांकी जलवायु मनुष्योंके निवासके योग्य थी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रदेशमें पंचजन अथवा आर्य रहते होंगे और यहीं उन्होंने अपनी संस्कृति व सभ्यताका गठन किया होगा और बादमें अतिशय ठण्ड पडनेके कारण वे ध्रुव छोडकर सब दिशाओंमें फैल गए होंगे।

लोकमान्य तिलकने उत्तरीध्रुवके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए यह कहीं नहीं बताया कि वे 'इण्डो आर्यन' उत्तरी ध्रुवके किस प्रदेशमें और किस समय रहे। इस विषयमें मेरा भी मत 'शीतभूमि' के रचयिता प्रो. आठलेके समान ही है कि इन इण्डो आर्यन लोगोंका निवास स्थान उत्तरी ध्रुवमें अक्षांश रेखाके $८१\frac{१}{२}$ के कोणमें रहा होगा। और उनके निवासका समय भी ईसासे १ लाख वर्ष पूर्वका रहा होगा।

यहां पर एक बात बता देना अत्यन्त आवश्यक है, वह यह कि उत्तरी ध्रुवके जलवायु और मैदानी प्रदेशोंके जलवायुमें जमीन आसमानका अन्तर है। और जबतक हम मानसिक रूपमें वहांके जलवायुकी कल्पना नहीं कर लेते तबतक हम वहांकी जलवायु या वातावरणको समझ नहीं सकते, जिसे हमारे पूर्वजोंने देखा था और आज हमें परम्परया प्राप्त हुआ है।

ध्रुवकी सबसे बडी विशेषता है, लम्बी रात, लम्बी उषा और लम्बा दिन, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वहां ६४ दिनोंकी एक रात होती है। यहां १ दिनसे मेरा अभिप्राय २४ घण्टेका है। इस दीर्घ रात्रीका उल्लेख संसारके प्राचीन साहित्योंमें मिलता है। यूनानी रचनाओंमें 'सिमेरियन अन्धकार', वैदिक और वैदिकोत्तर ग्रंथोंमें 'दीर्घतमिस्रा' × 'दीर्घरात्री', 'अन्धतमस्' ⊛ अथवा 'अन्धतमिस्र' इत्यादि। चौंसठ दिनोंकी इस दीर्घरात्रीके अन्तमें

● ऑन दि टॉप ऑफ दि वर्ल्ड' दि सोवियत एक्सपेडिशन टू दि नॉर्थ पोल, १९३७. एल्. ब्रोन्टमेन. विक्टर गोलेन्झ. लन्दन, १९३८ पृ. १७२-३

× ऋ. २।२७।१४

⊛ ईशोपनिषद्

बहुत दूर क्षितिजमें सूर्यके आगमनकी सूचना देनेवाली उषाके प्रकाशकी पहली और हलकी किरण दिखाई देती है। वह भी पहले दिन केवल १ घण्टे तक ही दिखाई देती है, बाकीके २३ घण्टे अन्धकारमय ही होते हैं। बादमें उषःप्रकाशके ये घण्टे प्रतिदिन क्रमशः बढते जाते हैं और अन्धकारके घटते जाते हैं। इस कालको वेदमें 'उषासानक्ता'+ कहा है। अर्थात् उषःप्रकाश और अन्धकारका विकल्प। इस प्रकार २४ वें दिन आकर उषाका प्रकाश २४ घण्टोंतक बराबर रहता है। और तब यह उषाका प्रकाश एक टॉर्चके प्रकाशके समान क्षितिजमें चारों ओर घूमता रहता है और उसका यह भ्रमण ३४ दिनतक चलता रहता है। वेदोंकी उषायें उत्तरी ध्रुवकी ही उषायें हैं, हमारी नहीं, जो २४ घण्टोंमें केवल १५-२० मिनटके लिए ही दिखाई देती हैं। क्योंकि ये १५-२० मिनटकी अल्पकालीन उषायें वैदिक ऋषियोंको वेदोंमें वर्णित उषाके सौन्दर्य पर ऋचा बनानेके लिए प्रेरणा नहीं दे सकती थीं। केवल दीर्घ, प्रतिक्षण बदलनेवाली तथा सतत घूमनेवाली उषाओंको देखकर ही ऋषियोंके मनमें विचार उठे होंगे और उस पर इन्होंने ऋचायें रची होंगी।

२५ वें दिन मध्यरात्रीके बाद दक्षिण-पूर्व दिशामें केवल पौने घण्टेके लिए सूर्य प्रकट होता है, और वह भी उसका पूरा भाग नहीं, अपितु जरासा भाग ही दृष्टिगोचर होता है। यह मध्यरात्रीका सूर्य १-१॥ घण्टेके लिए क्षितिजको पूर्वसे पश्चिमतक प्रकाशित कर देता है और उत्तरी ध्रुवके इस नये वर्षके प्रथम दिनके बाकी २२॥ घण्टोंमें उषा ही प्रकाशित होती रहती है। इसके बाद सूर्यका गोलक प्रतिदिन क्रमशः ज्यादा दिखाई देने लगता है और ज्यादा समयतक रहता भी है। इस प्रकार सूर्यप्रकाशका समय प्रतिदिन क्रमशः बढता जाता है और उषःकाल क्रमशः घटता जाता है। और आखिर कार १६ वें दिन सूर्यका पूर्ण बिम्ब क्षितिजपर प्रकट हो जाता है और २४ घण्टेतक उसका प्रकाश रहता है और उषःकाल बिल्कुल समाप्त हो जाता है। क्षितिजपर सूर्य पूर्णतया प्रकट होकर धीरे धीरे पर सतत रूपसे आकाशमें चढने लगता है। और ८६ वें दिन वह बिल्कुल ठीक मध्य आकाशमें पहुंच जाता है। वैदिक ऋषियोंकी कल्पनाके अनुसार सूर्य इस स्थान पर पूरा एक दिन स्थिर रहता है। फिर बादमें वह अस्ताचलकी ओर गमन करता है और ८६ वें दिन वह पूर्णतया अस्ताचलपर पहुंच जाता है।

इसके बाद १६ दिनतक सूर्य उगता है और डूब जाता है, पर प्रतिदिन क्रमशः क्षितिजमें गहराईमें डूबता है और अन्तमें १६ वें दिन फिर महीनोंतक उदय न होनेके लिए पूरी तरह डूब जाता है। तब २४ दिनोंतक रहनेके लिए संध्याकाल या झुटपुटे प्रकाशका अवतरण होता है। फिर उसी प्रकार २४ दिनतक विकल्पसे संध्याकाल एवं रात्रीका क्रम चलता है, इसे वेदमें नक्तोषस्× कहा है। फिर ६४ दिनकी इस दीर्घ रात्रीके बाद सूर्योदयका वही क्रम फिर चलता है।

यह वह स्थिति है जिसे हमारे पूर्वजोंने उत्तरी ध्रुवपर निवास करते हुए अनेक वर्षोंतक देखा। यदि ऐसे असाधारण दृश्योंने उनके जीवनके प्रत्येक पहलुओंपर अपना प्रभाव डाला है और वहांके निवासियोंकी सभ्यता एवं संस्कृतिको बिल्कुल बदल दिया हो तो क्या आश्चर्य है। जब तक हम उस स्थानपर जाकर उन दृश्योंको न देखें, तब तक हम इस बातकी कल्पना ही कैसे कर सकते हैं कि वहांके निवासियोंके रहन सहन, लेखन, धर्म, रीति रिवाज आदियोंपर यहांके वातावरणका कैसा प्रभाव पडा? यह तो सहज अनुमेय है कि इस ध्रुवपर रहनेवाले लोग अपने पूज्य और महान् देव सूर्यके पुनः उदयकी बडी बेताबीसे इन्तजार करते होंगे। (क्योंकि अनेक दिनोंतक अन्धकारमें रहनेके कारण सूर्यदर्शनके लिए उत्कण्ठित होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है) और बडी ही अधीरतासे दिनोंको गिनते होंगे, कि किस दिन सूर्यदेव अपने दर्शन देकर अपनी जीवनदात्री किरणोंसे वनस्पतियोंमें रस भरेंगे और मनुष्योंको भी कृतार्थ करेंगे। उत्तरी ध्रुवपर सर्व प्रथम चढनेवाले (१९०९ सन्) कमाण्डर पियरीने सूर्यके पुनः उदयके बारेमें ध्रुवके निवासियोंके भावनाओंका वर्णन इस प्रकार किया है- 'दीर्घरात्रीके समय हम दिन

+ ऋ. १।१२३।२; ४।५५।३

× ऋ. १।१४३।७

गिनते रहते हैं कि कब सूर्योदय हो। कभी कभी तो हम, आज तीस दिन रह गए, आज उन्तीस दिन रह गए, आज अट्ठाइस दिन रह गए, इस प्रकार दिन गिनते रहते हैं, ताकि सूर्यका दर्शन हम कर सकें। जो इन प्राचीन सूर्य पूजकोंकी भावनाओंको जानना चाहता है, उसे चाहिए कि वह इस ध्रुव पर एक जाडा बिताये।' ❀

जैसा कि मैंने पूर्व ही बताया है कि सूर्यके पुनरुदयका दिन वहांके निवासियोंके लिए नये वर्षका दिन होता था। उस दिन वहांके निवासी खुशीमें सरोबार होकर एक बडा भारी उत्सव मनाते थे। सूर्यदर्शनके इन महान् क्षणोंमें वे विभिन्न यज्ञोंकी योजना करते थे, तथा सूर्योदय शीघ्र हो, इसलिए सूर्यकी स्तुति करते हुए वे लोग उन यज्ञोंमें ऋचायें गाते थे। यही बात हमें वेदोंके कर्मकाण्ड विषयक ऋचाओंमें मिलती है।

उत्तरी ध्रुवके इस अपूर्व वातावरणमें वैदिक लोगोंका पंचांग (Calender) सौरमासके अनुसार चलता था और वह भी बडा ही सरल। कई मासकी अनुपस्थितिके बाद सूर्यदर्शनके प्रथम दिनसे वहांका नवीन वर्ष प्रारंभ होता था। प्रकाशका समय (चाहे वह सूर्यका हो, या उषाका हो अथवा संध्याकालका) ३०१ दिन तक रहता था, जो जाडोंमें इल्वक × अथवा इन्वक नक्षत्रके उदय होनेके समयसे शुरू होता था और अपभरणी नक्षत्रके उदय होनेपर समाप्त हो जाता था। प्रकाशके इन दस महिनोंमें "दशग्वों +" द्वारा यज्ञका कार्यक्रम चलाया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है गवां अयन ◉ आदि १५ दिनों तक चलनेवाले यज्ञोंकी योजना भी इसी पृष्ठभूमि पर की गई थी, कि उषः दर्शनके बाद २५ वें दिन सूर्यका दर्शन होता था। प्रजापतिको पुनर्जीवित करनेके लिए किए जानेवाले महाव्रत यज्ञमें २५ ही स्तोत्र क्यों होते हैं, और प्रजापतिको भी पच्चीसवां (पंचविंश) ही क्यों कहा गया है, यह भी उपर्युक्त बातसे स्पष्ट हो जाएगा। तथा अदितिके पुत्र आदित्योंकी संख्या ६ या ७ ही क्यों हैं और क्यों आदित्य अथवा सूर्य आठवें मासमें ही अदितिके द्वारा गर्भसे निकालकर मरने और पुनः जन्म लेनेके लिए छोड दिया गया था, * यह भी स्पष्ट हो जाएगा। उत्तरी ध्रुवमें भी सूर्य उदय होनेके बाद आठवें महिनेसे पहिले ही अस्त हो जाता है और अपने समयपर फिर उदय हो जाता है। षोडशी यज्ञ 卐 अथवा षोडशशालका वृत्रहन्ता इन्द्रके ÷ साथ सम्बन्ध इसीलिए बताया है कि उत्तरी ध्रुवमें भी नये दिनके सूर्यका उदयकाल भी १६ दिनका ही होता है। अथर्ववेदमें षडशीति (८६) अथवा षडशीति सुखयज्ञका ● वर्णन है। जिसने आधुनिक विद्वानोंको पहेलीमें डाल रखा है, तथा उनमेंसे कुछ तो यह कहकर चुप हो जाते हैं कि ये यज्ञ तो प्रागैतिहासिक हैं। यह षडशीति यज्ञ भी उत्तरी ध्रुवके साथ ही सम्बन्धित है। उत्तरी ध्रुवका सूर्य मध्याकालतक पहुंचनेके लिए ८६ दिन लेता है उसी प्रकार मध्याकालसे अस्ताचल तक जानेके लिए भी ८६ दिन ही लेता है। उस समयमें चलनेवाले यज्ञको षडशीति अर्थात् ८६ दिन तक चलनेवाला यज्ञ कहा गया है। इसी प्रकार सूर्य अस्ताचल पर पहुंच कर ४० वें दिन बिल्कुल अलक अन्धकारमें खो जाता है, यही मानों सूर्यने अन्धकारको खोज निकाला है। रेवती नक्षत्रके उदयकालमें सूर्य बिल्कुल अस्त हो जाता है। इसी भावको वेदने रूपकालंकारमें इस प्रकार कहा है- "पर्वतमें (अतलमें) रहनेवाले शम्बरको

❀ दि नॉर्थ पोल- कमॉण्डर पियरी, पृष्ठ १५३

× सोमस्य इन्वका विततानि— ताण्ड्य ब्रा. १।५।१। प्राचीन और मध्यकालीन खगोलशास्त्रियोंने इल्वक नक्षत्रका स्थान अपने अपने मतानुसार विभिन्न निश्चित किया है। कुछ उसका स्थान वृषभ राशिमें बताते हैं तो कुछ मिथुनमें। तथा पंचतारकोंमें इसका स्थान मृगशीर्षसे कुछ ऊपर है।

+ जो इन दस महिनोंमें सतत यज्ञ करते थे, उन्हें वेदमें "दशग्व" कहा गया है— ऋ. ३।२९।५,

◉ आश्वलायन श्रौत सू. ७।१३।३१

* ऋ. १०।७२।८-९

卐 १६ दिनोंमें पूर्ण होनेवाला यज्ञ।

÷ ऐ. ब्रा. ४।१, श. ब्रा. ४।२।५।१४

● अथर्व. ११।२।३

इन्द्रने ४० वें शरद्में ढूंढ निकाला। ❋ रेवती नक्षत्रको वैदिक साहित्यमें हीन नक्षत्र कहा है● क्योंकि इसके उदय होते ही सूर्य डूब जाता था और उस ध्रुवपर सर्वत्र अन्धकार छा जाता था। इसी प्रकार अपभरणी नक्षत्रका भी स्थान वैदिक साहित्यमें उत्तम नहीं है,+ क्योंकि वह यमके द्वारा अधिष्ठित दीर्घरात्रीके आनेकी सूचना देता है।

ऊपरके वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक पंचांग निश्चित तथा अपरिवर्तनशील था। पुष्य नक्षत्रके लगते ही दीर्घ उषाके दर्शन हो जाते थे। मघा नक्षत्रके लगते ही सूर्यगोलकका भाग दीख जाता था अर्थात् उस दिन नया वर्ष शुरू हो जाता था। ५ महिनेसे भी अधिक-कालतक रहनेवाले लम्बे दिनका प्रारम्भ फाल्गुनी नक्षत्रके उदय होते ही हो जाता था। ज्येष्ठा नक्षत्रके साथ ही साथ सूर्य भी मध्याकाशमें पहुंच जाता था। कुम्भ राशिपर घट तारकाओंके उदय होते ही सूर्य अस्ताचलपर पहुंच था। और मद्रा नक्षत्रके लगते ही सूर्य डूबने लगता जाता था। रेवती नक्षत्रके लगनेके साथ ही अन्धकारके प्रथम दर्शन होते थे, तथा दीर्घरात्रीकी शुरूआत सदा अपभरणी नक्षत्रके उदयके साथ ही होती थी। तथा उस दीर्घरात्रीकी समाप्तिपर प्रकाशकी पहली रेखा इल्वक नक्षत्रके उदयके साथ ही दीख जाती थी।

उत्तरी ध्रुवके पंचांगके और वह भी यज्ञके पंचांगके निर्माणमें चन्द्रमाका स्थान स्वभावतः ही गौण था। पर्वके उपलक्ष्यमें किए जानेवाले यज्ञोंमें चन्द्रमाकी गति विधियोंका निरीक्षण किया जाता था। तथा सूर्य--रहित दिनोंमें, कितने दिन बीत चुके हैं, इसका पता लगानेके लिए, चन्द्रमाका उपयोग किया जाता था। उत्तरी ध्रुववासियोंकी कालगणना अधिकांशमें विभिन्न नक्षत्रोंके उदयास्तमन पर आधारित थी। इसलिए वहांका पंचांग भी चान्द्रमासपर आधारित न होकर सौरमास पर ही आधारित था। वहांके निवासियोंको यह भी पता लगानेकी जरूरत नहीं थी कि नया साल कबसे शुरू होता है, क्योंकि उषःदर्शनसे २५ वें दिन सूर्यका प्रकट होना निश्चित ही था। इस कालगणनाकी कठिनाई तो तब उपस्थित हुई, जब ध्रुवको छोडकर वहांके निवासियोंको स्थानान्तरित होकर दक्षिण अक्षांश रेखाके पास अपना स्थान बनाना पडा। तब उनका पंचांग बिगड कर अप्रमाणित हो गया और सारे यज्ञ और उत्सव जो उत्तरी ध्रुवसे सम्बन्धित थे, समाप्तसे हो गए, तो एक नया पंचांग बनाने और दक्षिण अक्षांशके वातावरणके अनुकूल और चान्द्रसौरमासपर आधारित यज्ञोंके पुनर्गठनकी आवश्यकता हुई।

वैदिक मनीषियोंने भी देखा कि चन्द्रमाकी गतिकी दशायें व उसके उदयास्तमनका समय बदलता रहता था। पर उन्हें चन्द्रमाकी गतिकी इन दशाओंके झंझटमें पडनेकी कोई जरूरत महसूस नहीं हुई, क्योंकि उनकी कालगणना की आधारभूमि सूर्यकी गति थी, जो कि चन्द्रमाकी गति की अपेक्षा ज्यादा विश्वस्त थी। यद्यपि ऋग्वेदमें कई जगह ३६० दिनोंका एक वर्ष बताया है, × पर इस वर्षका निश्चय

❋ यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ऋ. २।१२।११

● ऋ. ५।५१।१४; ताण्ड्य ब्रा. १३।९।१७; अथर्व. १९।४७।४; मत्स्य पु. १६१।८२; अग्नि पु. ५२।२,५०।३२

\+ ताण्ड्य ब्रा. ३।१।५;

× ऋ. १।१६४।११; १०।१८९।३

उन्होंने ध्रुवसे स्थानान्तरित होनेके बाद ही किया होगा ऐसा मेरा विचार है। यहां एक तथ्य स्मरणीय है कि सब ऋचायें एक ही समयमें नहीं बनी हैं। अपितु अनेकों वर्षोंतक इन ऋचाओंका निर्माण होता रहा। इनकी रचना उत्तरी ध्रुवसे शुरू हुई और वहांसे स्थानान्तरित होनेके बाद भी अनेक वर्षोंतक चलती रही। पर यह निश्चित है कि प्राचीन पंचांग पूरी तरहसे सौरमासपर आधारित था। और वह भी उत्तरी ध्रुवसे सम्बन्धित था। यह असाधारण था, इसके समान दूसरा कोई पंचांग इस जमीनपर और कहीं नहीं मिल सकता।

अब मैं ऋग्वेदके रचनाकालपर विचार करता हूँ। मेरे विचारमें ऋग्वेदके रचनाकालके कुछ निश्चित संकेत ऋग्वेदके ही प्रथम मण्डलके ९५ वें सूक्तमें और दसवें मण्डलके ८५ वें सूक्तमें मिलते हैं। प्रथम मण्डलके ९५ वें सूक्तमें निम्न मंत्र आया है—

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु
जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्
प्रतीची सिंहं प्रतिजोषयेते॥ ऋ. १।९५।५

'यह तेजस्वी अग्नि पानियोंसे उत्पन्न होता है। लहरों-वाले पानीसे उत्पन्न होकर यह अपनी शक्ति बढाता है। इसके उत्पन्न होते ही द्यौ और पृथिवी दोनों डर जाते हैं, पर बादमें वे दोनों सिंहके पास जाकर उसे मनाते हैं, उसे अपने अनुकूल बनाते हैं।'

यहां इस मंत्रके प्रसंगमें एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तेजस्वी अग्निकी उत्पत्तिके साथ सिंहका क्या सम्बन्ध था? इसका स्पष्टीकरण किसी भी व्याख्याकारने आजतक नहीं किया, यहां तक कि सायणने भी नहीं। ऋग्वेदकी कुछ ऋचाओंमें इन्द्र 卐 और अग्नि * की सिंहके साथ समानता अवश्य दिखाई गई है। पर यहां तो इस मंत्रमें कहा है कि तेजस्वी अग्निके प्रकट होते ही द्यावापृथिवी दोनों डर गए और सिंहके पास पहुंचकर उन्होंने उसे मनाया। पर इस मंत्रका वास्तविक अर्थ यह नहीं है, जैसा कि साधारणतया किया या समझा जाता है। यदि उत्तरी ध्रुवकी पृष्ठभूमिके आधारपर अग्निका स्वरूप याथातथ्य रूपसे समझ लिया जाए, तो इस मंत्रका रहस्यार्थ पूर्णरूपसे स्पष्ट हो सकता है। जैसा कि वेदोंके सभी अध्ययनकर्ता यह बात जानते हैं कि वेदोंमें अग्निके तीन जन्म बताये गए हैं और उसके जन्मस्थान भी तीन हैं (१) पृथिवी, (२) अन्तरिक्ष और (३) द्युलोक। इस विषयमें प्रो. मेकडॉनलका भी कथन है— 'त्रिषधस्थ' विशेषण मुख्यतया अग्निके लिए ही वेदोंमें आता है +।'

ऋग्वेद १।९५।३ में अग्निके तीन जन्मोंका वर्णन है। अग्निके इन तीन जन्मोंका विचार उत्तरी ध्रुवकी पृष्ठभूमिको सामने रखकर करनेपर ही इसका रहस्यार्थ खुल सकता है। वहां प्रकाशकी पहली रेखा करीब दो मासकी लम्बी रातके अन्तमें ही दिखाई देती है। अतः प्रकाशकी यह पहिली किरण ही देवोंका पुरोहित और यविष्ठ (सबसे छोटा) अग्नि है, जो चारों ओर फैले हुए अन्धकारमें सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। बादमें ४॥ मासतक अनुपस्थित रहनेवाला सूर्य उदय होकर धीरे धीरे आकाशमें ऊपर उठता हुआ वृषभ राशिसे मिथुन राशिकी ओर जाता है। इस प्रकार इस यविष्ठ अग्निका तेज अन्धकारमें धीरे धीरे बढता जाता है और अन्तमें यह अन्धकारको नष्ट भ्रष्ट करके तथा पृथिवीसे अपने सम्बन्धको तोडकर धीरे धीरे दीर्घ उषाके अन्तरिक्षलोकमें पहुंच जाता है। इसके बाद अग्निकी गति उत्तरोत्तर बढती जाती है और अन्तमें दीर्घ उषाकी समाप्तिपर अग्निका तीसरा जन्म होता है और सिंहमें वह अपना स्थान बना लेता है। यहां पर आकर सूर्य भी अपने पूरे तेजके साथ प्रकट होता है। इस प्रकार अग्निका सूर्यके रूपमें तीसरा जन्म मघा नक्षत्रमें सिंहपर होता है। इसीका वर्णन ऊपरके सूक्तमें है। वैदिक कर्म काण्डमें अग्निका तीसरा जन्मस्थान उत्तरवेदीकी नाभि माना गया है, जो यज्ञमण्डपके पूर्व दिशामें स्थापित किया जाता है। उत्तरवेदिकी यह नाभि अग्निका तीसरा जन्म स्थान है, अतः अग्निरूपी सूर्य अथवा प्रजापतिका भी यह

卐 ऋ. १।१७४।३; ४।१६।१४

* ऋ. १।१९५।५; ३।९।४; ३।२।११

\+ वैदिक माइथॉलॉजी– मेकडॉनल १८९७ पृ. ९३

तीसरा जन्मस्थान है। और चूंकि सूर्यका जन्म सिंहमें हुआ है, इसलिए इस उत्तरवेदिकी नाभिको भी 'सिंही' कहते हैं।

सूर्य सूक्त (ऋ. १०।८५) में भी इस बातके प्रमाण हैं कि उत्तरी ध्रुवका नया वर्ष मघा नक्षत्रके उदयके आसपास ही शुरू होता था। इस सूक्तमें उषाकी अधिष्ठात्री देवी सूर्यपुत्री सूर्याके विवाहका वर्णन है। इस सूक्तकी १३ वीं ऋचा इस प्रकार है—

सूर्यायाः वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते ॥

इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया गया है– सविताके द्वारा संचालित सूर्याकी बारात आगे चली। मघा दिनोंमें गायें मारी जाती हैं और अर्जुनीमें वधू वरके घर ले जायी जाती है।' बहुतसे वैदिक मनीषि इस बातको स्वीकार करते हैं कि इस मंत्रमें एक महत्वपूर्ण खगोलशास्त्रसम्बन्धी घटनाका वर्णन है। और कुछ तो यह भी कहते हैं कि नये वर्षकी शुरुआतका इसमें वर्णन है। इस सूक्तमें सोम या चन्द्रमाको उषाकी देवी सूर्याका प्रेमी या वर और अश्विनोंको सूर्याकी ओरका आदमी बताया है। अश्विनों और अग्निने भी सूर्याका पाणिग्रहण करनेके लिए बड़ी दौड़धूप की, पर उसने सोमके साथ ही विवाह किया +।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें यह एक ही मंत्र ऐसा है कि जिसमें नक्षत्रोंका स्पष्टतया वर्णन है। वैदिकोत्तर साहित्यमें अघा को मघा और अर्जुनीको फाल्गुनी नक्षत्र कहा गया है ×। कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने इस तथ्यको इस आधार पर मानने से इन्कार कर दिया है कि प्राचीनोंको नक्षत्रोंके बारेमें इतना यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असंभव है। पर भारतीय विद्वानोंका बहुमत इस पक्षमें है कि प्राचीनोंके इस समीकरणको मान लेना चाहिए। ऋग्वेदमें कई स्थलोंपर 'सिंह' शब्द आया है ✷ और कहीं कहीं इन्द्र और अग्नि को भी सिंह कहा है। सूर्या सूक्तके इस मंत्रका यह वर्णन है कि सूर्याविवाहमें अघा नक्षत्रमें गायें मारी जाती थीं और अर्जुनी नक्षत्रके समय सूर्याने अपने पतिगृहमें प्रवेश किया, यह कथन प्रत्येकको आश्चर्यमें डाल देनेवाला है। कोई भी पाश्चात्य या पौरस्त्य भाष्यकार इसकी सन्तुष्टात्मक व्याख्या आजतक नहीं कर सका।

मेरे विचारमें इस मंत्रका रहस्यार्थ भी तभी खुल सकता है, जब कि प्रागैतिहासिक उत्तरी ध्रुवके सिद्धान्तकी पृष्ठभूमि पर इस मंत्रका विचार किया जाए। उत्तरी ध्रुवमें प्राचीन आर्योंका स्थान जैसा कि मैं पूर्व भी कह चुका हूँ, उत्तरी अक्षांशके ८६½ कोणके आसपास होना चाहिए। और मैं पहले यह भी बता चुका हूँ, कि जब २४ दिनकी लम्बी उषाके बाद नया वर्ष प्रारंभ होता है, तो सूर्य अनेक महिनोंके दीर्घ अन्धकारके बाद प्रथमबार जरासा दीखता है और क्षितिजपर पूरी तरह प्रकट होनेके लिए १६ दिन लेता है। इससे पहले प्रत्येक दिन वह थोडे समयतक दीखता है और फिर क्षितिजमें ही डूब जाता है और बाकीके घण्टोंमें उषा ही प्रकाशित होती रहती है। इस प्रकार इन १६ दिनोंमें सूर्यकी किरणें (गावः) दबा दी जाती हैं अर्थात् पूरी तरह प्रकट नहीं होने पातीं। इसीको इस मंत्रमें "गौवोंको मारने" के रूपकसे प्रस्तुत किया है। यह सूर्यकी किरणोंको मारना या दबाना अघा या मघा नक्षत्रके समय होता है। उसके बाद सूर्याके विवाहकी समाप्ति और उसका पतिगृहमें प्रवेश होता है। इसका अर्थ है कि १६ दिनके अन्तमें उषाका प्रकाश बिल्कुल समाप्त हो जाता है। यह अर्जुनी (फाल्गुनी) नक्षत्रके समय होता है। क्योंकि सूर्य एक नक्षत्रमें ज्यादासे ज्यादा १३ या १४ दिन ही रहता है। इसलिए मघामें सूर्यकिरणों (गावः) का हनन अर्थात् पूरी तरह प्रकट न होकर दब जाना और अर्जुनीमें सूर्यके पूरी तरह प्रकट हो जानेके कारण उषःकालकी समाप्ति अर्थात् सूर्याके विवाहकी समाप्ति ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिसे भी ठीक है।

अन्तमें एक प्रश्न और रह जाता है कि उत्तरी ध्रुव निवासके योग्य कब था? इसका उत्तर कुछ विद्वान् देते

+ ऐ. ब्रा. ४।७।-९१

× अथर्व. १४।१।१३

✷ ऋ. १०।२८।४,३।९।४; १०।८६।१३

हैं कि ईसासे १०००० वर्ष पूर्व यह स्थान निवासके योग्य था। भूगोलशास्त्र व ज्योतिषशास्त्रके आधारपर अब हम इसका विचार करते हैं। वर्तमान समयमें ये शास्त्र अनिश्चित स्थितिमें हैं, जैसा कि प्रसिद्ध भूगोलशास्त्रियोंके सन्देहजनक व परस्पर विरोधी कथन इस बातकी सत्यता सिद्ध करते हैं। एच्. जी. वेल्स अपने 'आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री' में लिखता है– 'हम अभीतक यह नहीं जानते हैं कि हमारे पूर्वज किस स्थानमें रहते थे और कहां उन्होंने मानव विकासके कार्य किए थे। सम्भवतः वह स्थान दक्षिण-पश्चिमी एशियामें कहीं रहा होगा अथवा भूमध्यसागर या हिन्द महासागरके आसपास कहीं रहा होगा, जो अब इन सागरों द्वारा आत्मसात् कर लिया गया है। उन्होंने कलाका भी विकास किया, जिसके अवशेष आज भी– एशिया, फारस, अरब, भारत, उत्तरी अफ्रीका, भूमध्यसागर, लालसागर और हिन्द महासागरकी गहराईमें पाये जा सकते हैं। आजसे १२ हजार वर्ष पूर्व ही हमारे पूर्वज योरोप, उत्तरी अफ्रीका और एशियामें फैल गए थे ×।" प्रो.एम्. ब्लूमफील्डने भी लिखा है– 'वेदोंकी भाषा व साहित्य इतना प्राचीन है कि इनका सम्बन्ध आर्योंके प्रारंभिक जीवनके साथ ही जोड़ा जा सकता है। इनका काल हजारों वर्ष पूर्व जाता है। और ४५०० वर्ष ईसा पूर्वका समय जो विद्वानोंने निश्चित किया है वह निराधार साबित होता है ※।

पर यदि यह सिद्ध हो जाता है कि ऊपर बताये गए वर्षोंमें भी उत्तरी ध्रुव निवासके योग्य नहीं था, तो हमें ऋग्वैदिक कालको २५, ८१२ वर्ष और पीछे ले जाना पड़ेगा। और इस प्रकार ऋग्वेदका काल ३५,५६३ ईसा पूर्व सिद्ध होगा। अतः इस बातकी अधिक संभावना है कि इस वर्षके आसपास उत्तरी ध्रुव अवश्य ही निवासके योग्य रहा होगा।

× दि आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री– एच्. जी. वेल्स– कैसल एण्ड कंपनी, लन्दन १९२५. पृ. ६०.

※ तिलक द्वारा अपने 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज' की भूमिकामें उद्धृत, पूना. १९०३, पृ. ११

नासदीय-सूक्त

[डॉ॰ श्री वासुदेवशरणजी अग्रवाल, हिंदुविश्वविद्यालय, काशी]

[गताङ्कसे आगे]

नासदीय-सूक्त केवल इतना कह कर ही शांत नहीं है, इसने सृष्टिके मूलतत्वकी व्याख्या करनेमें हमारी सहायता की है। इसके तर्क इस प्रकार हैं—

१ प्राप्तिका मूल कारण सत् कहा जाता है। उसे ही एकम् कहते हैं। वह एकमेवाद्वितीयम् है। सत्का विरोधी एतत् है जिसे इदं सर्वम् या विश्व कहते हैं।

२ वह एकम् सबसे ऊपर परात्पर है, यही तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास का तात्पर्य है। इस परात्परको ही निर्विशेष और निर्धर्मक भी कहा जाता है।

३ उस परात्पर ब्रह्मने सृष्टिकी इच्छाकी। श्वास-प्रश्वासकी प्रक्रिया आरम्भकी। (आनीत्) अर्थात् उससे प्राणन क्रियाका जन्म हुआ। इसे ही अन्यत्र निःश्वसित कहा गया है। निःश्वसितका ही पर्याय त्रयीविद्या है। क्योंकि निःश्वास या प्राणमें भी तीन प्राणोंका अन्तर्भाव है अर्थात् प्राण, अपान और व्यान। इसी प्रकारका त्रिक त्रयीविद्यामें पाया जाता है। इसे ऋत, ऋक् और साम कहा गया है। ये ऋत विद्या या प्राणतत्व असत् तत्व कहलाता है।

४ यह मौलिक प्राणन क्रिया किसी भौतिकतत्वपर आश्रित नहीं थी। इसीलिए इसे अवातं कहा गया है। जिस प्रकार जीवनकी प्राणक्रिया वायुपर आश्रित है, उस प्रकारकी किसी भौतिक वायुकी ब्रह्मके निःश्वासको आवश्यकता न थी। इसे ब्रह्मकी स्वधा या स्वशक्ति कहा गया है। यह स्वधा एक रहस्य है। इसके विषयमें न कोई प्रश्न किया जा सकता है और न कोई व्याख्या ही की जा सकती है। यह ब्रह्मकी स्वशक्ति है और अपने ही अधिकारसे इसकी सत्ता है। जैसा आगे कहा गया है। यह स्वधाशक्ति, नीचे की कोटि है और इससे ऊपर अवातकी प्रयती संज्ञा है। स्वधाका सम्बन्ध पितरोंसे है, पर प्रयतीका सम्बन्ध देवोंसे है।

५ अग्रे अर्थात् आरम्भ अवस्थामें केवल तम या अंधकार था और सब तमस् या अंधकारसे ही आवृत था। यहां दोनोंको तमस् कहा गया है। एक स्वयम्भूका तमस् है दूसरा परमेष्ठीका तमस् है। स्वयम्भू पिता है और परमेष्ठी माता है। ये जगत्के मातापिता हैं। स्वयम्भू बीज ब्रह्म है और परमेष्ठीको महद् ब्रह्म या योनी भी कहा गया है। दोनोंका एक युग्म है इस युग्मसे व्यक्त सृष्टिमें द्यावापृथिवी जन्म लेते हैं।

६ यह विश्व पहले 'सलिलम्' या समुद्रके नीचे अंतर्लीन था। सलिलम्का अर्थ वही है जो अम्भस्, आपः, समुद्र, महो अर्णः या पुराणोंके अनुसार एकार्णवका है। 'इदं सर्वम्' नामक जो विश्व है (ईशा वास्यमिदं सर्वम्) वह पहले समुद्रके नीचे गूढ या छिपा हुआ था, आपः तत्वका अर्थ प्रकृति या पंचभूतोंकी उस अवस्थासे है, जिसमें वह साम्यावस्थामें विद्यमान रहता है। इसे ही ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्पष्ट किया है 'यदाप्नोत् तस्माद् आपः' अर्थात् जब पंचतत्व या पंचभूत सर्वत्र व्याप्त थे और उनमें परस्पर कोई खिंचाव या तनाव नहीं था और वैषम्य नहीं था, वह अवस्था 'आपः' कही जाती है। उस अवस्थामें ये पंचभूत सलिल अर्थात् जलोंके भीतर अज्ञात अवस्थामें छिपे हुए थे। उसे ही नासदीय-सूक्तमें 'अप्रकेतं' कहा गया है।

७ तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्— यहां तुच्छ्य और आभु दोनों ही पारिभाषिक शब्द हैं। तुच्छ्यका अर्थ है वह जो छूछा हो अर्थात् यह विश्व, और आभुका अर्थ है यह, 'आ समन्तात् भवतीति' चारों ओर जो अपनी सत्ता रखता हो। इस प्रकार वह आभु ब्रह्मन् है। जबतक आभुका कोई अंश तुच्छ्यसे परिगृहीत न हो, तबतक कोई सृष्टि नहीं हो सकती। तुच्छ्यका अर्थ है सीमाभाव। विश्वकी रचनाके लिए सीमाभाव आवश्यक है। मंडलको ही सीमाभाव कहते हैं अर्थात् कोई आवरण जो तुच्छ है उसीको अभ्व कहते हैं। 'भूत्वा न भवतीति' जो होकर भी नहीं सा है वही अभ्व है। यह एक यक्ष है जो केवल दिखाई पड़ता है। और वस्तुतः कुछ नहीं है। ऐसा ही यह विश्व है, इसके तीन लोक नाम और रूपकी अभिव्यक्ति है। इन्हें ही अभ्व या यक्ष भी कहा जाता है।

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् ।...
अथ ब्रह्मैव परार्धमगच्छत् ।
तत्परार्धं गत्वैक्षत् कथं न्विमांऽ
ल्लोकान् प्रत्यवेयामिति ।
तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च ।
ते हैते ब्रह्मणे महती अभ्वे ।
ते हैते ब्रह्मणे महती यक्षे ।

(शतपथ ११।२।३।१-५)

'अर्थात् ब्रह्म परार्ध लोकमें था, परार्धमें उसने यह कामना की कि किस प्रकार मैं अपरार्ध लोकोंको प्राप्त होऊं। तब नाम और रूपके द्वारा उसने इन अपार लोकोंकी सृष्टि की। यही ब्रह्मके दो बडे यक्ष हैं। और इन्हें ही अभ्व कहते हैं।'

यह विश्व या नाम रूपका जगत् रूप तुच्छ्य-अभ्व-यक्ष इन नामोंसे कहा जाता है। यह उस सहस्रशीर्ष पुरुषकी महिमा है जिसके लिए पुरुष-सूक्तमें कहा है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः

(ऋ. १०।९०।३)

यह तीन लोकोंमें उसकी महिमा है, किन्तु पुरुष उनसे भी महान् है। जिस समय पुरुषने इस महान् यक्षको देखा उसके मनमें यह कल्पना हुई, कि मैं इस यक्षसे भी महान् बन जाऊं।

८ तपसस्तन्महिना आयतैकम्— यहां 'एकम्' का अभिप्राय व्यष्टि केन्द्रोंसे है। प्रत्येक व्यष्टि केन्द्र एक एक विश्व या एक एक शरीर है। यह समस्त विश्व एक यज्ञ है और समस्त विश्वोंकी समष्टि भी यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञको नाभि कहा जाता है, वही प्राणात्मक रचनाका केन्द्र है—

पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। (ऋ. १।१६४।३४)
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। (ऋ. १।१६४।३५)

'मैं पूछता हूँ इस विश्वका केन्द्र कहां है? उसका उत्तर है मैं कहता हूँ यह यज्ञ ही इस विश्वका नाभि या केन्द्र है।'

नाभि, हृदय, उक्थ, ऊर्ध्व, क, गर्भ, मध्य ये सब केन्द्रकी संज्ञायें हैं। यही एकम् है। जोकि अपने विष्कम्भके रूपमें बनता है। और उससे ही मंडलकी सृष्टि होती है। यह एकम् ही वह यक्ष है जो तपस् या ऊष्ण या देवोष्णसे जन्म लेता है। जैसे अथर्ववेदमें कहा है—

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये
तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। (अथर्व. १०।७।३८)

'सलिल या आपः के पृष्ठ अर्थात् जो मूल अव्यक्त प्रकृति थी, उससे नाम और रूप इन दो यक्षोंका जन्म होता है।' यह अग्निकी महिमा है। इससे यह यक्ष गतिशील बनता है।

आभुः ब्रह्मतत्वका वह अंश है जो तुच्छ्यसे परिगृहीत हुआ और जिसमें इस प्रकारकी उष्णता उत्पन्न हुई, वही सूर्य बना। सूर्य तपस्का ही रूप है। इसे ही 'समिद्ध इन्द्र' कहते हैं। यत् और तत्का पारस्परिक सम्बन्ध भी विचार करने योग्य है। ब्रह्मकी अनन्त महिमाकी तुलनामें यह विश्व एक परमाणुके तुल्य है। जैसे गीतामें कहा है (एकांशेन स्थितो जगत्)।

९ मनस्— वह जो व्यष्टिका निर्माता तत्व है, उसे 'मनस्' कहते हैं, वही अहंकार है। उसकी अनेक संज्ञायें हैं। उसे संज्ञा, चिति, संवेग, स्मृति आदि भी कहा है। यज्ञकी परिभाषामें मनस् तत्वको यजमान या दीक्षित या ब्राह्मण या होत्री या मनु भी कहते हैं। प्रत्येक शरीरमें जो सप्तहोतृ यज्ञ है, उसका अधिष्ठाता यह मनुतत्व है—

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः
समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।

(ऋ. १०।६३।७)

अर्थात् मनुने सप्त होताकी सहायतासे सर्व प्रथम इस अग्निको समिद्ध या प्रज्ज्वलित किया। और उसमें अपनी पहली आहुति डाली। मनु तत्व ही मनस् है। उसे मनुतत्व ही अग्नि, इन्द्र, प्राण, प्रजापति या शाश्वत ब्रह्म कहते हैं। जैसा मनुस्मृतिमें कहा है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिं
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणं अपरे ब्रह्म शाश्वतं। (मनु)

१० काम— अग्निका समिन्धन या इन्द्रका जन्म यही मनस् तत्व है। जैसा कि ऋग्वेदमें कहा है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ॥ ऋ. २।१२।१

मनका ऋत या शक्ति काम है। इसी बीजसे समस्त सृष्टिका जन्म होता है। इसे ही संज्ञा या विज्ञान भी कहते हैं। त्वष्टा प्रजापतिकी पुत्री संज्ञा है, जिसका विवाह सूर्य या विवस्वान्के साथ किया जाता है। अर्थात् प्रत्येक केन्द्रमें

जो चेतनाशक्ति है वही संज्ञा है और वह मनस्‌तत्वका ही एक रूप है। मनस् तत्व और संज्ञा इन दोनोंके सम्मिलनसे ही व्यक्तिकी शारीरिक चेतना स्थिर रहती है।

११ जब हम मनस् तत्वकी बात करते हैं तब यह स्मरण रखना चाहिए कि मनका स्रोत हृदय है। हृदयका तात्पर्य रक्तका अभिसरण करनेवाला कोई तत्व नहीं है, किन्तु हृद्देशका तात्पर्य इस शरीर या व्यक्तिके केन्द्रसे है। वह केन्द्र अव्यक्त है यद्यपि शरीर व्यक्त है। उस अव्यक्त केन्द्र को ही ईश्वर शक्ति कहते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

जो हृदय है वही नाभि है उसे ही गर्भ, उक्थ और मध्य कहते हैं। इन सबका अभिप्राय केन्द्रसे है। यह केन्द्र अव्यक्त है, उसी केन्द्र या हृद्देशमें मनस् तत्व व्यक्त शक्ति है। मनस् एजत् है, हृदय ध्रुव है। (ऋ. १।१६४।३०)। मनस् मर्त्य है, हृदय अमृत है। मनस् जीवन है और हृदय उसका अव्यक्त स्रोत है।

कवीयमानः क इह प्रवोचत्

देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्।

(ऋ. १।१६४।१८)

'कौन वह कवि है जो इस देवमनकी व्याख्या कर सकता है।' मन साधारण वस्तु नहीं है। वह ईश्वर ही है। शिव-संकल्पसूक्तमें मनको हृत्प्रतिष्ठ कहा गया है अर्थात् मनकी प्रतिष्ठा हृदयमें है। और यहां भी उसका उल्लेख है– हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा अर्थात् कवियोंने अपने मनकी शक्तिसे हृदयमें उस अव्यक्त स्रोतके बिन्दुको ढूँढा।

१२ अपने मनकी शक्तिसे कवियोंने किस तत्वका दर्शन किया, यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि जो सत् विश्व है इसके बन्धु अर्थात् इससे सम्बन्धित इसका जो स्रोत असत् अर्थात् प्राणसृष्टि है, उसीको कवियोंने अपने मनकी शक्तिसे पहचाना। सत् और असत् इन दो शब्दों के अर्थोंकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है और शतपथ ब्राह्मणमें भी स्पष्ट रूपसे आई है।

ऋषयो वाव ते अग्रे असत्, के ते

ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः। ६।१।१।१

मूर्त और शक्तिकी ये बन्धुता ऐसा एक रहस्य है जिसके विषयमें कुछ विज्ञानको भी पता नहीं होता। सत् और असत्‌का ये सम्बन्ध दार्शनिकोंके लिए भी अगम्य था। वह परस्पर विरोधी ज्ञात होता है। किन्तु तथ्य यह है कि देवोंसे भूतोंका जन्म हुआ है।

१३ इसके अनन्तर ऋषिका एक विचित्र दर्शन आता है। उसने अपने मनको अन्तर्दृष्ट करके यह सोचा है—

अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।

वह सत् तत्व नीचे था इसका मूल ऊपर था, यह ज्ञान नहीं पड़ता। कभी इसका मूल अधः अर्थात् बाहरकी ओर मंडलमें और कभी इसका मूल ऊर्ध्व या असत् अर्थात् केन्द्रमें है ऐसा विदित होता है। यहां अधःका तात्पर्य भौतिक जगत्‌से है और उपरिका तात्पर्य ब्रह्मसे है। कुछ ऐसा मानते हैं कि मनस्, प्राण और वाक् अर्थात् इस कुलका भौतिक विश्वका सम्बन्ध केवल व्यक्त प्रक्रियासे है। और कहना है कि यह एक रहस्य है। सत्य कहीं इन दोनोंके बीचमें है। वह उस सूर्यरश्मिके समान है जो न ऊपरसे है न नीचेसे। किन्तु किसी तिरश्चीन या तिरछे मार्गसे अर्थात् मध्यसे आती है। यही प्राणका स्वभाव है। न वह नितान्त रहस्यमय है न वह नितान्त भौतिक है। किन्तु देव और भूतके सम्मिलनसे उसका जन्म होता है। ऋग्वेदमें इन्द्रके जन्मके विषयमें कहा गया है—

तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि (ऋ. ४।१८।२)

'अर्थात् मैं अपनी माताके पार्श्व भागसे तिरछे होकर जन्म लेता हूं'। मत्स्य-पुराणमें इ ी कुमारके सम्बन्धमें कहा गया है—

वामं विदार्य निष्क्रान्तः सुतो देव्याः पुनः शिशुः।

देवी भागवतमें भी विष्णुके सम्बन्धमें यही कहा है कि क्षुद्र विराट्‌की वाम कुक्षिसे विश्वका जन्म होता है।

बभूव पाता विष्णुश्च क्षुद्रस्य वामः पार्श्वतः।

देवीभागवत ९।३।५९

इसी प्रकार उसका जन्म भी अपनी माताके पार्श्व भागसे हुआ था।

इनका अभिप्राय यही है कि प्राणतत्वका जन्म न तो केवल व्यक्तसे न केवल अव्यक्तसे किन्तु इन दोनोंके सम्मिलनसे होता है। जो कि मध्य-स्थानीय है। यदि प्राण केवल भौतिक होता तो भी उसका पता हम पा जाते। और यदि केवल अव्यक्त अभौतिक होता तो भी उसके विषयमें निश्चित हो जाता। किन्तु ये तो उस सुपर्णके समान है जो आकाशसे

झपट कर पृथिवीपर आता है और इसी प्रकार विरला हो कर झपटता है। कोई नहीं जानता वह कहांसे आता या कहां जाता है?

१४ सूतोंमें प्राणतत्वके जन्मके लिए माता और पिता इन दो तत्वोंका होना आवश्यक है। पिता रेतोधा है और माता महिमानः है। जो रेतोधा है उसे ही बीजप्रदपिता कहते हैं (गीता १४।४) और जो महिमानः है उसे ही महद्ब्रह्म या योनि कहते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
(गीता १४।३)

मानसी सृष्टिमें इन माता और पिताको क्रमशः स्वयंभू और परमेष्ठी कहते हैं। और व्यक्त सृष्टिमें इन्हें ही द्यावा-पृथिवी कहा जाता है। दो प्रकारके मातृ-पितृ तत्व आवश्यक हैं। एक मानसी सृष्टिके लिए दूसरी भौतिकी सृष्टिके लिए। उसी प्रकार अग्नि या प्राणाग्निको ही द्विजन्मा कहा गया है (ऋ. १।१९४।४)। अग्निके दो जन्म क्रमशः प्राण और भूतोंके धरातल पर होते हैं। पहला परस्तात् है और दूसरा जन्म अवस्तात् कहा जाता है।

१५ प्रयति— प्रयतिका तात्पर्य उस महती शक्तिसे है, जो संयती लोकमें शांत रहती है। जहाँ सत् और असत् ये शक्तियाँ हैं। जो स्वयंभूका मनस् तत्व है वही सारी सृष्टिका बीजप्रद पिता है।

१६ स्वधा— स्वधा नीचेके धरातलकी शक्ति है जिसका सम्बन्ध वाक्से है या जो परमेष्ठीरूप मातृतत्वकी शक्ति है। स्वधाका सम्बन्ध पितरोंसे है। वही विराज है तथा वही सृष्टिकी योनि है। मनुके अनुसार सर्व प्रथम ऋषि-तत्वका जन्म होता है और उसके अनन्तर वे पितृतत्वको जन्म देते हैं—

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥
(मनु ३।२०१)

ऋषि-तत्वका तात्पर्य स्वयम्भूसे है। पितृ-तत्वका तात्पर्य परमेष्ठीसे है। देवका तात्पर्य सूर्यसे है और मानवका पृथिवीसे है। ऋषिसृष्टि असत् है देवसृष्टि सत् है। इन दोनोंके बीचमें पितृसृष्टि है। जो कि स्वधासे परिगृहीत है। आगे चलकर वही देवसृष्टिमें यज्ञके रूपमें परिणत होती है।

१७ प्रयति और स्वधा अर्थात् परस्तात् और अवस्तात् इन दो स्थलोंका चिन्तन करते हुए ऋषिके ध्यानमें अग्नि शक्तिके वे अनेक रूप आते हैं, जिन्हें देव कहा जाता है यही देव-वाद था। किन्तु इस देववादको भी सृष्टिकी व्याख्याके लिए पर्याप्त नहीं समझा जाता था। किसीने कहा है—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनम्।

इस सृष्टिमें हम देवोंको अवश्य देखते हैं, किन्तु इन देवोंका मूल कहाँ है? यह सृष्टिसे ज्ञात नहीं होता। जितनी भी पृथिवीकी और द्युलोककी झांकियाँ हैं वे सब देव कहलाती हैं। इन्हें ही यजुर्वेदके ७ वें अध्यायके तीसरे मंत्रमें दिव्य और पार्थिव इन्द्रिय कहा है। स्वयंभू और परमेष्ठी अव्यक्त पुरुष हैं और महान्के साथ सृष्टिके पहले माता पिता बनते हैं। देवोंका यज्ञ इनसे नीचे सूर्यके धरातलपर आरम्भ होता है। अतएव लोकमें सूर्यको 'यज्ञ नारायण' कहा जाता है। सूर्यके जन्मसे पूर्व कोई नियमित यज्ञ नहीं होता, सप्त होतृ यज्ञ अर्थात् सप्त तन्तुओंसे निर्मित होनेवाला जो वस्त्र है वह सूर्यसे ही आरम्भ होता है। इस कारण सूर्यको विवस्वान् भी कहा जाता है। ये सात तन्तु या धागे क्या हैं? मनः, प्राण, पंचभूत या वाक् ये ही सात तन्तु हैं। सूर्यसे ही देव और असुरोंका संग्राम आरम्भ होता है। यही देवासुर युद्धका क्षेत्र है। देवोंका अधिपति इन्द्र है और असुरोंका अधिपति वृत्र है। यही इन्द्र और वृत्रका महान् युद्ध है, जिसकी कल्पना ऋग्वेदमें अनेक स्थानोंपर पाई जाती है। वह सूर्य मंडलसे ही आरम्भ होता है। महिष उसी वृत्रका रूप है। महिष चाहता है कि सूर्य मंडलमें प्रवेश करे और उसका विघटन करे, किन्तु जबतक इन्द्रका वज्र सक्षम है, जबतक इन्द्रकी शक्ति अक्षुण्ण है, तबतक वह महिषासुर केवल उस मंडलके चारों ओर मंडराता है और ईर्ष्या भरी दृष्टिसे उसे देखता है। उस मंडलमें उसका प्रवेश नहीं हो सकता। सीधे शब्दोंमें जबतक वहाँपर सूर्यका प्रकाश है, तबतक अंधकारका आक्रमण उस तक नहीं हो सकता।

१८ सृष्टिके प्रथम कारणका कथन करते हुए ऋषिने विश्वके अध्यक्षका उल्लेख किया है और वह ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अंग वेद यदि वा न वेद॥ (ऋ. १०।१२९।७)

परम व्योममें निर्गुणब्रह्मकी सत्ता देश और कालसे ऊपर

परात्पर ब्रह्म वन या अरण्यके समान है इस अरण्यकी अधिष्ठात्री शक्ति देवी अरण्यानी है जो ब्रह्मकी ही नित्य अचिन्त्य शक्ति है। उस वनका प्रत्येक वृक्ष अव्यय ब्रह्म है और उस अव्यय वृक्षमें अनन्त शाखायें होती हैं। अतएव उसे सहस्रवल्श वनस्पति कहा जाता है। वल्शाकार शाखा है। एक एक शाखा एक एक विश्व है। एक एक शाखा उस अव्यय अश्वत्थका एक अंश है। इस प्रकार वन, वृक्ष और शाखा ये तीनों एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। पर तीनोंका मूल स्वरूप एक ही ब्रह्मतत्व है– ब्रह्म तद् वनं अर्थात् ब्रह्म वह वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है जिसको गढ छीलकर देवोंने द्यावापृथिवीका निर्माण किया। हे प्रज्ञाशील मनीषियो ! मैं अपने विचारकी शक्तिसे यह कहता हूँ कि भुवनोंको धारण करनेवाला उनका अधिष्ठाता ब्रह्म ही है।

> ब्रह्म तद्वनं ब्रह्म स उ वृक्ष आस
> यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
> मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो
> ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
> (तैत्तरीय ब्राह्मण २।८।८)

इस प्रकार नासदीय – सूक्तमें ऋग्वैदिक सृष्टि विद्याका बहुत ही गम्भीर और सुनिश्चित वर्णन किया गया है। सूक्तके ७ मंत्रोंमें अनेक पारिभाषिक शब्दोंके द्वारा इन अर्थोंकी व्यञ्जना की गई है—

है। उसी परतत्वने निजी शक्तिसे इस समस्त सृष्टि (इदं सर्वम्) को उत्पन्न किया है। इस प्रकार ऋग्वेदका तत्त्व-दर्शन ब्रह्मवाद पर आश्रित है। अन्यत्र यह प्रश्न किया गया है कि इस सृष्टिका अधिष्ठान या आलम्बन और उपादान कारण क्या है—

> किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस
> यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
> मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्
> यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
> (ऋ. १०।८१।४)

वह वन कौनसा था और उस वनका वृक्ष क्या था? जिससे विधाताने द्युलोक और पृथिवीलोक इन दोनोंका तक्षण किया। हे प्रज्ञाशील तत्वदर्शिन्! अपने मनकी शक्तिसे इन प्रश्नोंपर विचार करो कि इन भुवनोंको धारण करनेवाला इनका अधिष्ठाता कौन है ?

यहां जिस अनन्त अपार वनकी ओर संकेत है वह परात्पर ब्रह्म है जिसके गर्भमें एक नहीं अनेक विश्व लीन हैं। जो असंख्य सृष्टियोंको अपनी कुक्षिमें धारण करता है। एक एक विश्व एक एक वृक्षके समान है जिस प्रकार किसी बडे अरण्यमें अनेक वृक्ष होते हैं, उसी प्रकार उस ब्रह्ममें अनेक विश्व हैं। ऐसे उस ब्रह्मको परात्पर कहते हैं उसीके लिए यहाँ तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास कहा गया है।

नासदीय-सूक्त

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥ (ऋग्वेद १०।१२९)

✲

शेष पृष्ठ ८ वेद-व्याख्यान]

होता है। शेष २५ भागोंमें न्यूनाधिक भाग वायु और सूर्यसे प्राप्त होनेवाले प्राणोंसे विर्मित होता है। इसलिये- " अन्नं वै दै प्राणिनां प्राणाः " पृथिवी स्थानीय प्राणके लिये- " अयं वै प्राणो योऽयं पवते "- अन्तरिक्ष स्थानीय प्राणके लिये- " प्राणः प्रज्ञानामुदयति "- द्युस्थानीय सूर्यरूपी प्राणके लिये कहा गया है। इस प्रकार त्रिविध प्राण, त्रिविधस्थानीय घर्मोंसे-यज्ञोंसे निर्मारित होते रहते हैं और जीवनको दीप्तिमय करते है।

पृथिवी स्थानीय घर्म अग्नि है, उसकी पावक संज्ञा है। उसके तेज एवं प्रकाश स्वाभाविक गुण हैं। सूर्यके भी ये गुण हैं। परन्तु अन्तरिक्ष स्थानीय वायुके धर्मकी न्यूनाधिक वृद्धि एवं ह्रास पृथिवी एवं द्युस्थानीय घर्मोंसे होती रहती है। सृष्टियज्ञके क्रमसे और अपने कर्मकाण्डमय यज्ञोंसे भी घर्म सम्पन्न होता है। अतः " मातरिश्वनो घर्म्मोऽसि "- वेदवाक्यका दर्शन यथार्थमें हो जाता है।

विश्वधाऽअसि

यह पूर्वोक्त यज्ञ है वह विश्वमें अनेक प्रकारसे सर्वत्र हो रहा है और उसीके आश्रयसे विश्वका कार्य जिस विधि एवं क्रियासे चल रहा है, वे विश्वके यज्ञ ही हैं। सवितादेव-परमात्मा-उन यज्ञोंका ब्रह्मा है। विश्वका जीवन ही यज्ञ है। अतः यज्ञ विश्वधा है विश्वका-अखिल ब्रह्माण्डका वह धारक है।

यह यज्ञ अखिल ब्रह्माण्डमें हो रहा है। जब हम इसका दर्शन ऊपर करते हैं तो सहसामुखसे निकल पडता है कि- " वसोः पवित्रमसि द्यौरसि "- जब हम इसका दर्शन पृथिवीपर करते हैं तो- " पृथिव्यसि " कहना ही पडता है और जब हम अन्तरिक्षमें इस यज्ञका दर्शन करते हैं तो- " मातरिश्वनो घर्मोसि " यह मन्त्र वाक्य भी सहसामुखसे उच्चारित हो जाता है। इस प्रकार पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष इन त्रिविध स्थानोंमें यज्ञ व्याप्त होनेसे " विश्वधाऽसि "- सार्थक प्रतीत होने लगता है।

इन त्रिविध स्थानीय यज्ञोंमें अनेक प्रकारके यज्ञ हो रहे हैं। जिस क्षेत्रके जिस तत्वके आश्रित अन्य पदार्थोंकी रचना एवं पोषण हो रहा है वह उसका देवता है। वह यज्ञ जिस परिधिमें हो रहा है वह उसका छन्द है। जिस क्रिया एवं ज्ञानाश्रित वह यज्ञ है वह उसका विनियोगपूर्वक मन्त्र है। इस सबका अधिष्ठाता एवं दर्शक-ऋषि है। इसमें जो जीवन अर्थात् परस्पर क्रमानुसार मिलकर जिन क्रियाओंका संचार है वह उसका स्वर है। इस प्रकार सृष्टि यज्ञमें ऋषि, देवता, छन्द स्वरात्मक यज्ञ चल रहा है।

सृष्टियज्ञके अन्दर जब मूल प्रकृतिसे विकृति प्रारंभ होती है तो उत्तरोत्तर विकृतियोंका अपने निकटस्थ कारण द्रव्यसे रूपान्तर होता है। जिस कारण द्रव्यसे कार्य जगत्‌की उत्पत्ति होती है वही उसकी प्रकृति भी कहलाती है। इस प्रकारसे प्रकृति यज्ञोंसे विकृति यज्ञ होते रहते हैं। ये विकृति यज्ञ उत्तरोत्तर विश्वके विकास या रचनामें अपने उत्तर-उत्तर यज्ञोंके प्रकृतियज्ञ हो जाते हैं। जहाँ प्रकृति यज्ञोंकी समाप्ति हो जाती है वहाँ मूल प्रकृति ही रह जाती है। उसमें परिणामका अभाव या उसकी भी मूल प्रकृति न होनेसे साम्यावस्था दृष्टिगोचर होने लगती है। इन सृष्टि यज्ञोंकी समाप्तिपर तत्ववेत्ताको प्रकृतिका यथार्थ दर्शन हो जाता है और इस सृष्टि यज्ञमें परमात्माकी विविध शक्तियोंका देवत्व-रूपमें दर्शन करते हुए, उससे भी परे परमात्मशक्तिका दर्शन होने लगता है। मूल प्रकृतिके साथ परमात्माकी जिस प्राथमिक सामर्थ्यसे विकृतियाँ प्रारम्भ होती हैं और समस्त जगत्‌की रचना होती है, दैवतक्रममें वही सवितादेव है। उसका- " सविता वै देवानां प्रसविता " के रूपमें मानव ऋषियोंने सर्गारम्भमें दर्शन किया।

यह यज्ञ- " विश्वधा " है। यज्ञमय प्रभु भी विश्वधा हैं। विश्वका धारण पोषण करनेवाले हैं। जब विकृतियज्ञों-का उत्तरोत्तर सृष्टिमें विकास होता जाता है तो एक रचना जड एवं भोग्यरूपमें और दूसरी रचना जीवके साहचर्यसे चेतन अर्थात् भोक्ताके रूपमें अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। पुनः भोग्य और भोक्ता, अन्न और अन्नादका यज्ञ अन्योन्याश्रित चलता है तथा इस प्रकार सृष्टिका क्रम चलता रहता है।

इस पिण्डरूपी यज्ञमें जिस गुण या तत्वकी वृद्धि या ह्रास हो जाता है तो ब्रह्माण्ड यज्ञसे उसकी वृद्धि या ह्रास करके वैकारिक साम्यावस्था स्थापित करनी पडती है और जब विश्वमें इच्छाओंके प्रतिकूल भोग्यतत्वोंकी वृद्धि या क्षय हो जाता है तो उसको भी साम्यावस्थामें लानेके लिये जीव-

जगत्के सर्वश्रेष्ठ प्राणी-पुरुष-द्वारा जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे भी यज्ञ हो हैं। अतः हम जितना भी श्रेष्ठ कर्म सबके हितार्थ करेंगे वे यज्ञ ही कहलावेंगे और वे भी— "विश्वधा" होंगे।

इस प्रकार पूर्वोक्त जो यज्ञ हैं वह सबके वासका हेतु है। पवित्र है। शुक्रोकके समान विद्या विज्ञानका प्रकाशक है। वायुके साहचर्यसे सर्वत्र विस्तृत होता है और वायुका भी शोधक है। इन सब गुणोंके कारण वह विश्वधा है। समस्त जगत्का धारणकर्ता, पालन एवं पोषणकर्ता है। जो यज्ञ सबका धारक पोषक एवं पालक है वह मेरा भी अवश्यमेव धारक, पोषक एवं पालक है। विश्वके अन्दर सब कुछ आ जाता है। अतः हमारी सब प्रकारकी कामनायें, हमारे सब प्रकारके भोग, हमारे सब प्रकारके ऐश्वर्य, हमारे समस्त कर्म, हमारी जन्मसे मरणपर्यन्त सब क्रियायें यज्ञसे सम्पन्न हो सकती हैं। इसलिये उस विश्वधा यज्ञको हम भी अपनेमें अवश्य धारण करें।

इस पवित्र यज्ञको यदि हम भी धारण करेंगे तो वह— "मातारिश्वनो घर्मोसि" वायुका शोधक होनेसे हमारे अन्दर जो प्राणादि १० वायु हैं उनका शोधन कर देगा। प्राणादिके शोधन हो जानेसे- "पृथिव्यसि" इस यज्ञके वायुके साथ विस्तृत होनेके गुणधर्मसे, उन शुद्ध प्राणादिका प्रसरण तथा उनके गमनादिकी क्रिया हमारे शरीरके अन्दर अच्छे प्रकारसे होगी। उससे हमारा प्राण बलवान् बनेगा। हमारा दीर्घ जीवन होगा तथा हमारी साधनायें बलवती होंगी। इस प्रकार प्राणके पवित्र होनेपर- "द्यौरसि" यह शुक्रोकके समान प्रकाशक और विद्याका हेतु होनेसे हमारे अन्दर जो अनेक जन्मजन्मान्तरोंके मल, विक्षेप और आवरण पड़े हुए हैं और उनके जो कुसंस्कार पड़े हुए हैं उनका एवं उनकी वृत्तियोंका प्राणकी प्रदीप्त अग्निमें दहन हो जायगा। अज्ञानान्धकार नष्ट हो जायगा और विद्या एवं विज्ञानका प्रकाश हमारे द्युस्थानीय मूर्धामें-शिरमें-होने लगेगा।

उस समय हमारी वाणीसे विद्या एवं विज्ञानका प्रकाश होगा। हमारे कर्मोंसे विद्या एवं विज्ञानका व्यवहार प्रवृत्त होने लगेगा। विद्या, विज्ञान एवं प्रकाश युक्त मूर्धा होनेसे ब्रह्मकोश इसकी संज्ञा होजावेगी। सारा शरीर ब्राह्मी हो जायगा। हमारे शरीरके ब्राह्मी होजानेपर, हमारे मस्तिष्क के ब्रह्म कोश होजानेपर हमारा जीवन परमपवित्र होजायगा। हमारे विचार परमपवित्र होजावेंगे। हमारे जीवनका समस्त व्यवहार ब्रह्मरूप एवं ब्रह्ममय होजावेगा। हम जो कुछ भी करेंगे वह सब ब्रह्मार्पण ही होगा। फलेच्छा रहित होगा। हम सदा शुभ कार्योंमें प्रवृत्त रहेंगे। उस समय- 'वसोः पवित्रमसि- ' यह यज्ञ पवित्र है, पवित्रकर्ता है, इसके अनुसार हमारे जीवन यज्ञमें हम भी अपनी पवित्रताको अनुभव कर सकेंगे। यह हमारी श्रेष्ठतम कर्मके लिये साधना होगी। इस साधनाको यज्ञ देवके द्वारा और सबके प्रेरक प्रभुकी कृपासे अच्छी प्रकार प्राप्त करें।

परमेण धाम्ना दृंहस्व

हे देव! आप जिस पवित्र ज्ञान युक्त, विस्तृत, सर्वत्र व्याप्त होनेवाले एवं विश्वके धारक यज्ञका सम्पादन कर रहे हैं, मैं भी उस यज्ञका उपासक, साधक एवं अनुष्ठानकर्ता बनूं और वह यज्ञ 'परमेण' अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानोंसे, सब ओरसे, सब प्रकारसे, 'धाम्ना' अपने श्रेष्ठनामसे, प्रख्यातिसे, प्रशंसित होता हुआ, सुखोंसे हम सबको, 'दृंहस्व' बढ़ाता है तथा स्वयं भी बढ़ता एवं दृढ होता है। उसकी दृढता एवं वृद्धिसे शुभ यज्ञ उपासकको भी सुख प्राप्त हो। मैं भी वृद्धिको, समृद्धिको एवं समस्त ऐश्वर्योंको प्राप्त करूं अन्य भी समस्त जन यज्ञके उपासक सुख एवं समृद्धिको प्राप्त करें और उन सबकी सुखसमृद्धिसे विश्वमें भी सुख एवं समृद्धि हो। हमारे शरीरके सर्वोत्कृष्ट धाम-हृदय मन्दिर में यह प्रकाशित हो।

नाम, स्थान एवं जन्म ये तीन प्रकारके धाम होते हैं। यज्ञका अनुष्ठाता यज्ञपति-यजमान-परम उत्कृष्ट नाम अर्थात् प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। वह परम उत्कृष्ट अर्थात् परमश्रेष्ठ स्थानों, पदों और आवासोंको भी प्राप्त करता है। इस प्रकार यज्ञद्वारा यजमानको परमश्रेष्ठ नाम और स्थानोंकी प्राप्ति इस जन्ममें तो होती ही है परन्तु आगामी जन्म भी परम उत्तम-परमश्रेष्ठ- होते हैं और उन जन्मोंमें भी परमश्रेष्ठ नामों एवं स्थानोंको प्राप्त करता है। इसलिये हे देव! आपका यज्ञ परम वृद्धिको प्राप्त हो और हमारी भी उससे अत्यन्त सर्व प्रकारकी वृद्धि हो।

इसी मन्त्रके पूर्वार्ध भागमें यज्ञको परमश्रेष्ठ नामोंसे सम्बोधित किया गया है। जिन-जिन नामोंसे उसे सम्बोधित किया गया है वे निःसन्देह परमश्रेष्ठ नाम हैं। उन्हीं नामोंको हम यज्ञपति या यजमान बन कर धारण करें तो

हम भी परमश्रेष्ठ नामोंसे वृद्धिको प्राप्त होते रहेंगे। यज्ञ वसु है तो हम भी सबके आवासकी व्यवस्था करें। आवासकी व्यवस्थाके पश्चात् उसमें पवित्रता, शुद्धताकी व्यवस्था करें। यदि आवासके बाद शुद्धताकी व्यवस्था नहीं होगी तो वहां कौन बसेगा ? यदि कोई बसेगा भी तो अपवित्रताके कारण उसके वासका ही उच्छेद होने लगेगा। अतः यज्ञके इन दोनों गुणों-धर्मों-को धारण करना हमारे लिये आवश्यक है। हम यज्ञके इन दोनों परमधामों-परमतेजों-को धारण करके परम तेजस्वी बनें तथा इन तेजोंको अपने चारों ओर देदीप्यमान करते रहें।

श्रेष्ठ एवं आदर्श निवास व्यवस्था एवं उसमें श्रेष्ठ एवं आदर्श पवित्रतायें स्थानोंकी, व्यक्तियोंके शरीरोंकी और उनके मन एवं आत्माकी करनेके बाद, तीसरी व्यवस्था विद्या-विज्ञानके धारण करने करानेकी आवश्यक है। विद्या-वेदविद्या- भी परमतेज है। यह परमतेज भी निरन्तर हममें वृद्धिको प्राप्त होता रहे। केवल मुझमें ही नहीं अपितु वह 'पृथिव्यसि' के अनुसार सर्वत्र विस्तृत होता रहे और वह सर्वता मूर्धन्य, सर्वोत्कृष्ट स्थानको प्राप्त होता रहे। इस स्थितिसे बढकर अन्य किसीकी स्थिति, या अन्यका तेज न हो। वेद विद्याके तेजका कोई भी पराभव न कर सके। अतः इन दोनों यज्ञियगुणों एवं तेजोंको भी हम धारण करते रहें।

उपरोक्त चारों अत्यन्त श्रेष्ठ यज्ञके गुणोंके अतिरिक्त इसके 'मातरिश्वनो घर्मोसि' के अनुसार हमें अपने वातावरणको भी तेजयुक्त बनाना होगा। वातावरणमें जितना तेज बढेगा उतनी ही उसमें धारणाशक्ति, सामर्थ्यकी वृद्धि होगी एवं जितनी ही अधिक शक्ति एवं सामर्थ्य वातावरणमें बढेगी उतनी ही अधिक मात्रामें सबका हित होगा-कल्याण होगा। अतः यज्ञकी साधनासे हमें अपने अन्दर उपरोक्त षट् सम्पत्तियोंको धारण करते हुए अत्यन्त वृद्धिको एवं सुखको प्राप्त कर सकते हैं। और सबको सुखी कर सकते हैं। इसलिये पूर्वोक्त गुणवाला यज्ञ 'उत्तम स्थानोंसे, उत्तम नामोंसे और उत्तम जन्मोंसे अर्थात् नाना प्रकारोंसे सुखको बढानेवाला है।' वह हम सबको भी यज्ञकर्ममें दृढ कराकर समृद्ध करे।

मा ह्वाः

वह यज्ञ कुटिलताको प्राप्त न हो अर्थात् विधिहीनताको प्राप्त न हो। यदि इसमें कुटिलता, विधिहीनता होगी तो वह वसु-वासयिता- नहीं रह सकेगा। उसमें पवित्रता नहीं रहेगी। कौटिल्य दोषसे उसमें विद्याका अभाव एवं अविद्यादि दोषोंकी वृद्धि होजायगी। उसमें संकीर्णता और वातावरणको भी कुटिल, दोषपूर्ण बनानेका अवगुण आ जावेगा और अन्ततो गत्वा, परिणाममें वह विश्वका अमंगलकर्ता होजावेगा। इसलिये हे देव ! यह पवित्र एवं विश्वका धारण करनेवाला यज्ञ आपकी ओरसे भी कुटिल न होने पावे, ऐसी हम प्रार्थना करते हैं अन्यथा विश्वका संहार हो जायगा। हम भी सदा आपके यज्ञके अनुकूल प्रयत्न करते रहें, जिससे हमसे भी कोई कुटिलता, दोष एवं अपराध न हो सके।

बाह्य कर्मकाण्डमय यज्ञोंमें भी हमसे कोई दोष, अपराध या त्रुटि न हो। हम उसका विधिवत् अनुष्ठान करें। इन यज्ञोंमें प्रयुक्त होनेवाले मन्त्रोंके उच्चारणमें भी किसी प्रकारकी कुटिलता, दोष न हो। यदि मन्त्रमें ही कुटिलता हो गई तो सब यज्ञ निष्फल हो जायगा। हमारी सब साधना नष्ट हो जायगी। यह वेदवाणी भी पवित्र है- परम पवित्र है। यह पवित्रवाणी उच्चारण दोषोंसे अपवित्र होनेपर अनर्थ भी करती है। अतः अर्थकरी, पवित्रवाणीको किसी प्रकार कुटिल, त्रुटित, दोषपूर्ण स्वर या वर्णोंसे न होने दें।

हमारा जीवन भी तो यज्ञ है। इस यज्ञके अनुष्ठानमें यदि कुटिलता-दोष-हो जायगा, तो उन दोषोंसे शरीरके वात, पित्तादि-दोष दूषित हो जावेंगे। वातपित्तादिके दूषित होनेपर रसरक्तादि दूषित होंगे। इनके दूषित होनेपर शरीर व्याधिग्रस्त हो जायगा और जीवन-यज्ञ ध्वस्त हो जायगा तथा क्लेशादि उत्पन्न हो जावेंगे। यदि हमारे जीवन यज्ञका अनुष्ठान दैवी वृत्तियोंसे होता रहेगा तो हमारा जीवन यज्ञ सफल होगा। यदि दैवी वृत्तियोंसे विपरीत आसुरी वृत्तियोंसे जीवन यापन होगा तो यह जीवन यज्ञ कुटिलताको प्राप्त हुआ माना जावेगा।

आसुरी वृत्ति केवल अपनेहीसे-स्वार्थसे-सम्बन्धित रहती है और दैवी वृत्ति स्वार्थ भावना रहित- सबके कल्याणसे सम्बन्धित होती है। स्वार्थका क्षेत्र क्षुद्र है-अत्यन्त संकुचित है, अतः इसमें सबके लिये स्थानाभावसे वसु धर्म नहीं प्रकट होता। स्वार्थमें राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ एवं मोहादिकी भूमि विद्यमान रहती है अतः उसमें घोर अपवित्रताका निबिडतम वन जीवनयज्ञको आलोकमय पथसे अज्ञानान्धकारमें भटकानेवाला हो जाता है और उस जीवनसे

परोपकारके विपरीत अपकारादि अनिष्ट कर्म होते रहते हैं। अनिष्ट मार्गसे फिर इष्ट प्राप्ति संभव नहीं। अतः- 'मा ह्वाः' यज्ञ कुटिल न हो और इसका त्याग न हो इसका ध्यान रखना होगा।

इन कारणोंसे ब्रह्माण्डमें हो रहे समस्त प्रकारके आधि-भौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक यज्ञ अपने-अपने स्थानपर अपने-अपने नियतक्षेत्रमें, यथाविधि, त्रुटिरहित सम्पन्न होते रहें। जिन यज्ञोंके हम अनुष्ठाता हैं उनमें हमसे कोई दोष न हो और हमारे प्रयत्न ऐसे हों कि अन्य यज्ञोंको कुटिल न होने दें या यज्ञोंका त्याग न हो तथा उनकी सर्व प्रकारसे रक्षा एवं वृद्धिका प्रयत्न करते रहें।

मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्

पूर्वोक्त पवित्र यज्ञको, उसके तेजसे सर्वोत्तम सुख प्रदाता बनानेका हम प्रयत्न करें और उसके परमतेजकी दीप्तिको समिद्ध रखनेके लिये उसमें किंचित् भी दोष, विधिहीनता, कुटिलता या उसके प्रति उपेक्षा, उदासीनता न रखनेके लिये वेदका उपदेश होनेके अनन्तर उस यज्ञको, उसका यज्ञपति-यजमान- भी कभी न छोडे- उसका कभी त्याग न करे- यह भी उपदेश प्राप्त हुआ। इसलिये यज्ञको कभी छोडना नहीं चाहिये। उसका नित्य श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करके समस्त संसारको सुखी बनाना चाहिये।

प्रथम अनुवाकके मन्त्रमें यज्ञको ग्रहण करनेका आदेश दिया था। यज्ञकी साधिका गौकी रक्षा एवं वृद्धिका आदेश दिया था, तो अब दूसरे अनुवाकके प्रथम मन्त्रमें यज्ञके गुणोंका वर्णन वेदने किया और यज्ञको विश्वधा- समस्त संसारका धारक बताया। अतः यज्ञकी साधिका गौ भी विश्वधा-संसारकी धारिका एवं पालयित्री सिद्ध होगई और उसका भी वास पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोकमें त्रिविध रूपोंसे नाम, स्थान एवं जन्मोंके रूपसे है। त्रिविध रूपोंमें, अनेक रूपोंसे होनेवाले यज्ञोंमें उन-उन स्थानोंकी गौओंका दर्शन करें। उन यज्ञों एवं गौओंके रहस्यको समझें और उन-उन गौओंकी रक्षा एवं वृद्धि करते हुए उनका दोहन करके स्थूल तथा सूक्ष्म जगत्के आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक क्षेत्रोंका पोषण करें, जिससे यज्ञ चलते रहें और यज्ञपति भी उन यज्ञोंका त्याग न कर सके।

इस मन्त्रके प्रारम्भमें यज्ञको वसु शब्दसे सम्बोधित किया गया है। वसु शब्द अष्ट संख्याका वाचक भी प्रसिद्ध है। इस मन्त्रमें क्रमशः आठ वाक्योंकी रचना होनेसे अष्ट संख्याकी पूर्ति होजाती है। इस महान् ब्रह्माण्डमें विशाल यज्ञ होरहे हैं। अखिल विश्व ही यज्ञशाला बनी हुई है। इन सबका अधिपति-यज्ञपति-सृष्टि यज्ञका यजमान परमात्मा है। वह प्रवाहसे अनादि रूपमें इस यज्ञको रच रहा है। वह कभी इस यज्ञका त्याग नहीं करता है। 'यथा पूर्वमकल्पयत्' यह वेदवाक्य इसके लिये साक्षिरूप है। उस प्रभुने इस क्रमका कभी त्याग नहीं किया है और न प्रभु इस यज्ञका त्याग ही करेगा। वह तो उसका अनादि स्वभाव है। स्वभावका त्याग होता ही नहीं।

हम भी जिन यज्ञोंका अनुष्ठान करें उनका अपने-अपने आश्रम मर्यादाके अनुसार विधिवत् पालन करें और उनको न तो कुटिल होने दें और न उनका त्याग ही करें। यदि यज्ञोंको उदासीनता एवं उपेक्षासे किया तो यह भी किसी न किसी प्रकारकी यज्ञके प्रति कुटिलता हुई और यज्ञका त्याग करना ही हुआ। अतः जिस प्रकारसे परमात्मा यज्ञका त्याग कभी नहीं करता है उसी प्रकारसे हमें भी यज्ञोंका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

यह यज्ञ अनेक शुभ गुणोंसे युक्त है, उसका त्याग करना कुटिलता है। महादोष है। महापराध है और महा पाप है। हम यज्ञको ग्रहणकर परमश्रेष्ठ जीवन मार्गका अवलम्बन करें। हमारे जीवनसे परमश्रेष्ठ कर्म होते रहें और उनसे सबको पवित्रता, प्रकाश, विद्या, बल एवं जीवन प्राप्त होता रहे। हमारा जीवन कभी ऐसा न हो कि जिस से चारों ओर अपवित्रताके वातावरणका निर्माण हो तथा अविद्या, अन्धकार एवं विनाशका साम्राज्य स्थापित होजावे। हम सदा यज्ञपति बने रहें। यदि हम यज्ञका त्याग करेंगे तो यज्ञपतिपदसे च्युत हो जावेंगे और हमारा जीवन अयज्ञिय होजायगा- अपवित्र हो जायगा-अविद्यान्धकार युक्त होजायगा। फिर हमारी विचारशक्ति स्वार्थमय होजावेगी और उस स्वार्थके वशीभूत होकर निस्तेज कर्म होंगे जो विश्वका हित नहीं कर सकेंगे। अतः पवित्र यज्ञको, जो श्रेष्ठतम कर्म है उसको कभी कुटिल या दोषपूर्ण न होने दें और न उसका कभी त्याग ही करें।

'इति द्वितीयानुवाकस्य प्रथम मन्त्रस्य वेदव्याख्यानम्'

अवश्य पढिये] [अवश्य पढिये

संस्कृत सीखनेका सरलतम उपाय

' प्रत्येक राष्ट्रवादीको संस्कृतका अध्ययन करना चाहिए। इससे प्रान्तीय भाषाओंका अध्ययन भी सुगमतर हो सकता है। किसी भी भारतीय बालक और बालिकाको संस्कृत ज्ञानसे रहित नहीं होना चाहिए।'

—महात्मा गांधी

\+ + + +

' यदि मुझसे पूछा जाए कि भारतकी सबसे विशाल सम्पत्ति क्या है? तो मैं निःसंकोच उत्तर दूंगा कि वह सम्पत्ति संस्कृत भाषा और साहित्य एवं उसके भीतर जमा सारी पूंजी ही है। यह एक उत्तम उत्तराधिकार है और जब तक वह कायम है तथा हमारे जीवनको कायम किए है, तबतक भारतकी आधारभूत प्रतिमा भी अक्षुण्ण रहेगी। अतीतकी सम्पत्ति होते हुए भी संस्कृत एक जीवित परम्परा है।' —पं. जवाहरलाल नेहरु

\+ + + +

' हमारी संस्कृतिका स्रोत इसी संस्कृत भाषासे निकला है। हम जानते हैं कि आज भी हम इस संसारमें इसीके कारण जीवित हैं और भविष्यमें भी जीवित रहेंगे।' —स्व. डॉ. राजेन्द्रप्रसाद

\+ + + +

इन महापुरुषोंकी वाणी इस बातकी साक्षी है कि संस्कृतभाषा भारतका सर्वस्व है। आप भी सच्चे भारतीय हैं अतः हमें पूर्ण विश्वास है कि आप भी निश्चयसे संस्कृतभाषा सीखना चाहेंगे।

क्या कहा? संस्कृत बहुत कठिन भाषा है। इसका व्याकरण बहुत कठिन है। इसको पढते हुए सिर दुःखने लगता है।

ठीक है, ठीक है, मालूम पडता है कि आपने अभीतक ऐसी ही पुस्तकें देखी हैं, जो सिरमें दर्द पैदा कर देती हैं। और आप समझते हैं कि संस्कृतभाषा बहुत कठिन है। मालूम पडता है कि आपने अभीतक श्री पं. सातवलेकर कृत ' संस्कृत-पाठ-माला ' नही देखी है।

आइए, आज आपका इस पुस्तकसे परिचय करायें—

१ इस पुस्तकमें छोटे छोटे और सरल वाक्य हैं।

२ इसमें व्याकरण पर बिल्कुल जोर नहीं दिया गया है।

३ इसमें अनुवाद करनेका ढंग बडी सरलतासे बताया गया है।

४ इसमें रामायण और महाभारतकी अनेक कथाओंको सरल संस्कृतके द्वारा बताया गया है। इसलिए कहानियोंमें रस लेनेवाले बच्चे भी इस पुस्तकको बडे चावसे पढ सकते हैं।

५ महात्मा गांधी और सरदार पटेल जैसे महापुरुषोंने भी इस पुस्तककी प्रशंसाकी है और उन्होंने अपने वृद्धावस्थामें भी इन पुस्तकोंके द्वारा संस्कृत सीखी थी।

६ जी हां, लेखककी यह घोषणा है कि यदि आप रोज एक घन्टा इस पुस्तकका अध्ययन करें, तो आप केवल एक सौ घण्टोंमें ही इतनी संस्कृत सीख सकते हैं कि आप रामायण और महाभारत सरलतासे समझने लगेंगे।

७ यह पुस्तक अबतक १३ बार छप चुकी है, और हर बार हमें यह पुस्तक ४-५ हजार छापनी पडती है। चारों ओरसे इस पुस्तककी मांग आती है। क्या कहा? इस पुस्तकका एक ही भाग है? जी नहीं, इस पुस्तकके १८ भाग हैं। तो तो इनकी कीमत ही बहुत ज्यादा होगी? जी बिल्कुल नहीं, एक भागकी कीमत सिर्फ ५० न. पै. (डा. व्य. अलग) है। कहिए, है न पुस्तक बहुत उपयोगी? तो फिर आज ही एक पत्र डालकर यह पुस्तक मंगवाइए अवश्य ही मंगवाइए। लिखिए—

मंत्री—

पोस्ट- ' स्वाध्याय मंडल (पारडी) '

पारडी [जि. सूरत] (गुजरात)

वैदिक ऋचाओंकी ओजस्विता

(लेखक— श्री पं. वेदव्रत शर्मा, शास्त्री)

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् । (भागवत)

× × ×

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ (विष्णु-पुराणे २।३।१)

(१) वीर-भावना

प्रीति करके निभाना बडा काम है, प्राप्तिसे भी सुरक्षा कडा काम है ।
वीरका भोग्य ही यह धरा धाम है, युद्धमें ही मिला वीरको नाम है ।
वीरकी भूमिके वीर रक्षक तुम्हीं, तीर जैसे निकलते जवानो बढो ।
आग शोले उगलते जवानो बढो, मोरचेके मचलते जवानो बढो ।

" पटनासे प्रसारित "

वीर-भावना

स्वस्थ-शरीरमें स्वस्थ आत्मा ही सात्त्विक बलिदानकी भावनाओंसे ओत-प्रोत होकर वीरत्वकी पुनीत-प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। वेतन-भोगी अस्वस्थ आत्मावाला भूधर-काय भी वीर नहीं हो सकता। आदर्श सैनिक राष्ट्रीयता और बलिदानकी भावनाओंसे प्रेरित होकर अपनी मातृ-भूमिका अपनेको सच्चा सपूत समझता है। इसके सम्मान और सुरक्षाके लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करनेके लिए सर्वदा कटिबद्ध रहता है। वीर ही सच्चा क्रान्त-दर्शी होता है। इसके बलिदान एवं उत्सर्गकी आधार-शिलापर ही स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयताकी भित्ति खडी की जाती है। इस प्रकार निर्मित स्वतन्त्रताका भवन अजेय और चिरस्थायी होकर ' अयोध्या ' ही होता है। उक्त भावनाओंसे विहीन केवल वेतनार्थी सैनिक निःसत्त्व उत्साहहीन भेड और बकरीकी भांति गतानुगतिक होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्रका परम-कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्रके सैनिकोंकी आत्माओंको राष्ट्रीयताकी भावनाओंसे चैतन्य और बलवती बनावे।

राष्ट्रीयताकी भावनाओंसे प्रेरित होकर एक आदर्श सैनिक अपनेको वीरत्वकी आकांक्षाओंसे भर-पूर कर आत्माभिमानी हो जाता है। वीरत्वाभिमानी सैनिक ही वीर-भूमिके वीर-सैनिक होते हैं। ये ही ससागरा भूमिके रक्षक और नियामक होते हैं। इन्हीं भावनाओंको भगवती श्रुति भी परिपुष्ट करती है—

वीर-भोग्या वसुन्धरा

' रत्न-गर्भा ससागरा भूमि वीरोंके द्वारा ही सुरक्षित होती हुई उन्हें पुत्रवत् पालती है। ' अन्यथा इस पर दूसरोंका आधिपत्य होता है। सैनिक अपनी भूमिका मातृवत् समादर करता है। अपने शरीरके रुधिर-कणमें देशके पञ्चतत्त्वोंको सन्निविष्ट पाता है। जैसा कि भक्त-प्रवर महात्मा तुलसीदास कहते हैं—

क्षिति जल पावक गगन समीरा ।
पञ्च-तत्त्व यह रचित शरीरा ॥

अर्थात् हमारे शरीरमें जो पृथ्वीका अंश, जलका अंश, वायुका अंश, अग्निका अंश और आकाशका अंश है, वह

हमारी मातृ–भूमिका ही समग्र रूप है। जन्म–दातृ माता उन अंशोंको परिशुद्ध करनेका माध्यम मात्र है। इन्हीं अंशोंको प्यारी जन्म–दात्री मां हमें अपने गर्भाशयमें तथा दुग्धमें प्रदान करती है, इन्हीं भावनाओंसे परिशुद्ध अन्तःकरणवाला सैनिक युद्धकी वेदी पर श्रद्धा–भक्तिसे कहता है कि—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ॥

"यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।" इसी समादरको प्रदान करता हुआ आदर्श सैनिक नत–मस्तक होकर कहता है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥
(रामायण)

प्रत्येक देशवासीको अपनी मातृ–भूमिसे वही सम्बन्ध और ममता रखनी चाहिये, जो सम्बन्ध और ममता वह अपनी जन्मदातृ मातासे रखता है। मातृ–भूमि और माता पुत्रोंको स्वर्गसे भी बढकर मान और आनन्द प्रदान करनेवाली होती है। अतः प्रत्येक नागरिक अपनी मातृ–भूका पुत्र होता है और मातृ–भूमि उसकी मातातुल्य होती है। वीरके हृदयमें अपनी मातृ–भूमिके प्रति वही श्रद्धा–भक्ति होती है, जो कि जन्म–दातृ मांके प्रति होती है। वेदमें भी इसी भावनासे उपदेश करते हैं कि—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
अथर्ववेद १२।१।१२

भारत–माता वीरप्रसवा है। अतः वीरोंके हृदयोंमें मातृ-भूमिका जाज्वल्यमान रेखा–चित्र अङ्कित रहता है, जिस पर वीर–सैनिक आत्माभिमान करते हुए फूला नहीं समाता। सती सीता, माता दुर्गा और झांसीकी रानीको कौन भूल सकता है ? जहाँ हमारी मातृ–भूमि सिंहवाहिनी रिपु–दल-वारिणी है, वहाँ अपनेको भांति भांतिके खाद्य पदार्थोंसे हृष्ट-पुष्ट तथा बलिष्ठ भी बनानेवाली है। गङ्गा, यमुना आदि नदियाँ इसके स्नेहकी अमृत धारायें हैं। यह सारे संसारका भरण–पोषण करनेवाली है। अपनी उदार भावनाओंसे समस्त विश्वको मातृ–स्नेह प्रदान करती है। इन्हीं भावोंको हमारे ऋषियोंने निम्न–प्रकारसे अभि–व्यक्त किया है।

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्य–वक्षा जगतो निवेशिनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्नि
मिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥
अथर्ववेद १२।१।६

'हे पूजनीया मां ! तू समस्त–भूमण्डलका भरण–पोषण करनेवाली है, सभी प्रकारके खनिज पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करती है, तेरे ही प्राङ्गणमें सर्व प्रथम साम–स्व गुञ्जारित हुआ था, तूने अपनी ज्ञान–ज्योतिसे अज्ञान-तिमिरको नष्ट कर विश्वको उद्–बोधित किया था। तू हमारे राष्ट्रको सभी प्रकारके धनोंसे अलङ्कृत कर '। इसी भावको वेदकी दूसरी ऋचा भी सम्यक् परिस्फुट करती है—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।
अथर्ववेद १२।१।८

'हमारी मातृ–भूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें उत्तम तेज, बल तथा शक्तिको धारण करावे।'

हम वीर–भूमिके वीर–सैनिक हैं, जो कभी भी अरिदलसे पराजित नहीं हुए, सर्वदा अहत, शत्रुसंहारक होकर अपने वीरोचित गुणोंसे सर्वोत्कृष्ट रहे हैं। अतः यदि कोई अज्ञान और प्रमादवश हमारे राष्ट्रको नष्ट करना चाहता है और आक्रमण करनेका दुःसाहस करता है, तो हम अपनी मातृ–भूमिसे आशीर्वाद प्राप्त कर युद्धके लिए कटि-बद्ध होंगे।

भूमे ! मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥
अथर्ववेद १२।१।६३

'हे जननि ! तू सबकी जन्म-दात्री है, हमें कल्याण-प्रद सम्पत्तिसे सम्यक् सम्पन्न कर। हे क्रान्त-दर्शिनि ! देवि !! सूर्य–तेजसे तेजस्विनी होती हुई हमें राज्य–श्री एवं कल्याण-मयी–भावनाओंमें प्रतिष्ठित कर।' मां ! यदि तुम्हारा कोई अपमान करनेका दुःसाहस करता है, तो मैं उसको अपनी तोपों (शतघ्नियों) और बन्दूकों (भुशुण्डियों) से क्षत–विक्षत करनेकी अदम्यशक्ति रखता हूं।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥
अथर्ववेद १।१६।४

'हे शत्रो ! यदि तुम हमारे राष्ट्रके पशुओं, मनुष्यों तथा भूमिको नष्ट करोगे, तो हम तुम्हें सीसेकी गोलियों और वज्रोंसे विध्वस्त कर देंगे।' यह मेरा अटल व्रत है। हम सूर्य

और चन्द्रमाको साक्षी मानकर आज मातृ-भूमिकी रक्षाका व्रत ग्रहण करते हैं।

मातृ-भूमिकी रक्षाका व्रत

सूर्य! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥
गोभिल २।१०।१६

'हे प्रकाश-केन्द्र! सूर्य देव!! जैसे तुम अपनी प्रखर कर-किरणोंसे प्रगाढतम अन्धकारका विध्वंस करते हो और इस अपने शाश्वत-व्रतपर सर्वदा वर्तमान रहते हो; उसी प्रकार मैं भी अपने तीक्ष्णतर अस्त्र-शस्त्रोंसे अपने अरि-दलको नष्ट करनेका अटल व्रत लेता हूँ। तुम हमारे इस पावन-व्रतके साक्षी बनो। इस व्रतसे मैं मृत्यु-रूपी असत्यसे निकल कर अमरताके सत्यको प्राप्त हो रहा हूँ।' यह हमारी सूनृता प्रतिज्ञा है।

चन्द्र! व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

'हे आह्लादप्रद चन्द्र! तुमने अपनी शीतल किरणों तथा मनोज्ञ चन्द्रिकासे सबको प्रमुदित करनेका व्रत धारण कर रखा है। तुम अपने व्रतपर सर्वदा अटल रहते हो; मैं भी अपनी सेवाओंसे अपने राष्ट्र तथा मित्र-राष्ट्रोंको तुम्हारी तरहसे प्रसन्न करनेका व्रत लेता हूँ। इस व्रतके द्वारा यशस्वी होकर अमरता प्राप्त करूँगा। इस व्रतको मैं सम्यक् समझ-बूझकर धारण करता हूँ। इस व्रतके पालन करनेमें अपना सहर्ष बलिदान करूँगा। अतः मैं तुमको अपना साक्षी मानता हूँ।'

मानव जब किसी व्रतको धारण करनेका संकल्प करता है, तो सर्व-प्रथम उसे मानसिक निर्बलतायें आ घेरती हैं। अतः आदर्श सैनिक अपने मनको शिव संकल्पमें लगाता है। शिव-संकल्पों द्वारा मन-रूपी-महावीर युद्ध-सागरको पार करता है। सैनिक अपनी आत्माको दृढ और बलवान् बनाता है। आत्मिक-दृढता अभयकी भावनापर ही अवलम्बित रहती है। मनके निर्भीक होनेपर विजय वीरोंके हाथमें आ जाती है। 'मनके हारे हार है मनके जीते जीत'। अतः निम्न वैदिक ऋचायें मानवोंको अभयताकी भावनाओंसे ओतप्रोत करती हैं।

अभयताका मधुरिम गान

अभयं नः करत्यन्तरिक्षं
अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तात्
उत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
अथर्व. १९।१५।५

'हमारे लिये आकाश, अन्तरिक्ष, तथा पृथिवी सदा अभयता प्रदान करें। हम आगे-पीछे, ऊपर तथा नीचे सब ओरसे अभय हों। हमें किसीसे किसी प्रकारका भी भय न हो।'

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥
यजु. ३६।२२

'हे राष्ट्रपते! जिस जिस देशमें हमसे सेवा लेना चाहते हो, वहां वहांसे हमें अभय करो। वहांसे हमारी प्रजायें तथा पशु कल्याणसे युक्त होनेके साथ साथ अभय हों।' हम अपने मित्रों तथा शत्रुओंसे भी अभय हों।'

अभयं मित्रादभयममित्रात्
अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
अथर्व. १९।१५।६

'हम अपने मित्रों तथा शत्रुओंसे भी अभय हों। परिचितों तथा अपरिचितोंसे भी हमें किसी प्रकारका भय न हो। हमारी रातें तथा दिन भयसे रहित हों। सभी दिशाओंमें रहनेवाले प्राणी हमारे मित्र हों। हम सबसे मित्रताकी आशा करते हैं तथा हमसे भी सब मित्रताकी आशा रखें।'

मित्रत्वकी भावना

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु. ३६।१८

'हे शक्तिशालिन् प्रभो! मुझे संकल्पका दृढ बनाओ। मुझे सारे प्राणी मित्रकी दृष्टिसे देखें। मैं भी सब प्राणियोंको

मित्रकी दृष्टिसे देखूं। हम सब एक दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें।' मित्रसे कामना निष्ठ होनी चाहिए।

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमाभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋ. १०।१९१।३

'तुम्हारे विचार समान हों, तुम्हारी विचार करनेकी सभायें विरोध-शून्य हों, तुम्हारे मन और चित्त एक हों। मैं तुम्हें समान-विचार व समान-ज्ञानसे युक्त करता हूं।' राष्ट्र-पति अपने सैनिकोंमें परस्परकी समान-भावना उत्पन्न करे।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथर्व. ३।२७।१

'जो हमसे द्वेष करता है अथवा हम जिससे द्वेष करते हैं। उस द्वेष-भावको हम न्यायकी दाढमें रखते हैं।' मानव द्वेषकी भावनासे बहुतसी बुराई कर बैठता है। अतः द्वेष-भावको छोडना ही उत्तम है।

स्वराज्यकी अर्चना

इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्माय चोदयन्
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।५

"जिस प्रकार सूर्य या विद्युत् वायु-वेगसे कांपते हुए मेघके उन्नत भागपर वज्रसे आक्रमण करके जलको बह जानेके लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार मैं भी अपने अरिदलको अपने अस्त्रोंसे नष्ट करते हुए स्वराज्यकी अर्चना करूं।" जिससे हमारे राष्ट्रकी वृद्धि तथा प्रतिष्ठा हो।

अधिसानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छति
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।६

"अपने स्वराज्यकी अर्चना तथा प्रतिष्ठा करता हुआ मैं ऐश्वर्यवान् सूर्यकी तरह तेजस्वी होकर सैकडों पर्ववाले वज्रसे शत्रुके प्रत्येक अङ्गपर अच्छी प्रकार प्रहार करूँ। और अपने मित्र-राष्ट्रोंके हितके लिए उनको प्रसन्न करता हुआ राष्ट्रका यश-गान करूँ।"

सहस्रं साकमर्चत परि ष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतं
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।९

"अपने स्वराज्यकी अर्चना, मान, आदर करते हुए बलवान् हजारों नागरिकों, ऐश्वर्य और राष्ट्रके कार्योंके आश्रय-स्वरूप अपने राष्ट्रपतिका सब लोग एक साथ मिलकर सम्मान करें। बीसों मंत्री और सहायक मिलकर सब प्रकारके स्वराज्य-कार्यको संभालें। सैकडों सेनाके वीर-सैनिक राष्ट्र नायकका आदरसे नमस्कार तथा सम्मान करें।"

यद् वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः।
अहमिन्द्र जिघांसतो दिवि ते बद्बधे शवः
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।१३

'ऐश्वर्यवान इन्द्र जिस प्रकार वायुके द्वारा विद्युत्को प्रेरित करके मेघोंको छिन्न-भिन्न करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी तोपोंसे अरिदलको छिन्न-भिन्न करके परास्त करूँ। इस प्रकार विजयी होता हुआ अपने स्वराज्यकी अर्चना करूँ।'

सैनिककी योग्यतायें

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो
ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी
उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ अथर्व १२।१।१

'सत्य-निष्ठ, अनुशासन और नियमके व्रतकी साधना करनेवाला, ज्ञानी और विज्ञानी, पूर्ण-तपस्वी, श्रेष्ठतम कार्य करनेवाला ही भूमिके प्राणियोंपर शासन कर सकता है। इस प्रकारसे शासित भूमि हमारे भूतकालीन इतिहास और भविष्य-कालीन संकल्पकी संरक्षिका होती है। वह मातृ-भूमि हम सब लोगोंको विस्तृत स्थान व सुख प्रदान करे।'

१ बृहत्-सत्य, २ ऋतम्- अनुशासन, ३ व्रतकी साधना, ४ ज्ञान-विज्ञानकी समता, ५ श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण, ६ तप तपस्या अर्थात् स्वनिर्धारित नियमका स्वयं भी आचरण करना। सैनिक और अधिकारियोंमें ये छः मौलिक गुण होने चाहिए।

१ बृहत्-सत्य

सत्यका साधारण अर्थ है- जो मनमें ध्यान करे वही कहे और जो वचनसे कहे, उसे कर्तव्यों द्वारा करके दिखलावे

अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा परहित ही करे। यथार्थ कहना, यथार्थ सुनना और करना भी सत्य है। सत्य ही अहिंसा है यह बापूजीका कहना था। क्योंकि अहिंसा और सत्य दोनोंमें परहितकी भावना निहित है। मनसा, वाचा, कर्मणा निःस्वार्थ और निष्काम भावसे परहित करना ही सत्य है। सत्य 'बहुजन-हिताय' और 'बहुजन-सुखाय' ही होता है। इस प्रकार सत्यका उदार-भावसे पालन करना चाहिए। सत्यके द्वारा मनुष्य अपने और परायेकी संकुचित भावनासे निकल कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विशाल भावनामें प्रवेश करे और सबका समभावसे हित करता हुआ समर्थकी स्थितिको प्राप्त होवे। इस प्रकार शासन करनेवाला व्यक्ति ही शासक बन सकता है। अन्यथा रक्षक ही भक्षक हो जाते हैं। 'बृहत्-सत्य' ही शासकका महान् और सर्व श्रेष्ठ गुण है। क्योंकि 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्' कहा गया है।

२ ऋत अर्थात् अनुशासन

शासक अनुशासित प्रजापर ही सुगमतया शासन कर सकता है। उत्तम आदर्श द्वारा शिक्षित प्रजा जब उसी प्रकारका आचरण करनेके लिये प्रेरित की जाती है तो उसे अनुशासन कहते हैं। राजा या राष्ट्र-पति भी बापू तथा विनोबा भावे जैसे सन्त महात्माओं द्वारा अनुशासित होता है। रामराज्यमें वशिष्ठ और विश्वामित्र इस कार्यके उत्तर-दायी थे। प्रजा राजाके गुणोंका अनुकरण करती है। अतः यह स्वयं सिद्ध है कि जैसा राजा या शासक होता है प्रजायें भी वैसी ही होती हैं। ऋत अर्थात् शाश्वत सत्य जो महात्माओंकी हृदय-प्रेरणा है, उससे अनुशासित होता हुआ शासकवर्ग प्रजाओंपर शासन करे।

३ दृढ-तपस्या

अनुशासनमें रहनेके लिए कष्ट-सहन और स्वार्थ-त्याग परमावश्यक होते हैं। जबतक शासक तपस्याकी अग्निमें अपनेको तपाकर खरा कुन्दन नहीं बना लेता, तबतक वह शासन करनेमें कच्चा रहता है। स्वार्थ-परायणता और इन्द्रियलोलुपता प्रजाके हितोंको चाट जाती है। इसलिए शासन करनेसे पूर्व राजाको स्वयं अनुशासित होना चाहिए। वह दृढ-तपके द्वारा प्रजाके हितके लिये शासनकी बागडोर अपने हाथोंमें ले। प्रजाकी सेवा करके देशका उत्थान करना ही शासकका कर्तव्य है। ऋषियोंने अपने अनुभवों द्वारा शासकोंकी योग्यतायें निर्धारित की हैं। इन्हें पालना नितान्त आवश्यक है।

४ व्रतकी साधना

जिस प्रकार चन्द्र-सूर्य अपने कर्तव्य-पथपर सदा अटल रहते हैं उसी प्रकार शासक भी प्रजाकी सेवाके व्रतपर सदा अडिग रहे। इसके लिये गांधीजीके द्वारा निर्धारित एकादश व्रतोंका आचरण करना आवश्यक है। मनका सदैव सन्तुलन रखने हुए व्रतकी साधना करे। आहार और विहारपर नियन्त्रण एकादश व्रतोंसे ही सम्भव हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। इन्हें संयमित रखना ही एकादश व्रतोंका पालन है। व्रतके द्वारा ही मानव कर्तव्य-पथपर दीक्षित होता है।

५ ज्ञान-विज्ञानकी जानकारी

शासकके लिए विज्ञान और ज्ञानकी योग्यता रखनी भी आवश्यक है। भौतिक विज्ञान द्वारा कर्म-योगकी साधना करता हुआ ज्ञानके द्वारा परोपकारकी क्षमता प्राप्त करे। ज्ञानके द्वारा ही सच्ची कर्म-निष्ठा हो सकती है। विज्ञान तो साधकको कर्मके योग्य बनाकर विरत हो जाता है। ज्ञान आत्माके प्रकाशसे कर्म-योगको निष्कामकी भावनामें बदल देता है। अतः शासकके अन्दर ज्ञान और विज्ञानकी योग्यता होनी चाहिए।

६ श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान

प्रजाकी उन्नतिके लिए नई नई योजनाओंका सञ्चालन होना चाहिए। बिना योजनाओंका आविष्कार किये देशकी गरीबी और बेरोजगारी दूर नहीं की जा सकती है। अतः उक्त योजनाओंके द्वारा देशका उत्थान करना चाहिए। देशके प्रत्येक नागरिकका परम-कर्तव्य है कि इन योजनाओंको सफल बनानेका प्रयत्न करे।

७ इन्द्रिय संयमका व्रत

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

अथर्व. ११।५।१७

"इन्द्रिय संयम और तपके द्वारा सैनिक या क्षत्रिय राष्ट्रकी रक्षा करता है।" 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ वीर्यरक्षा ही नहीं है अपितु सभी इन्द्रियोंका संयम है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

अथर्व. ११।५।१९

"इन्द्रिय-जित् विद्वान् योद्धा इन्द्रिय-संयमसे मृत्युको

जीत लेता है। ब्रह्मचर्यके द्वारा आत्मा भी इन्द्रियोंसे यथावत् कार्य सम्पादित कराती है। "

दीक्षाकी याचना

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

ऋ. ५।५१।१५

"हम कल्याण-प्रद मार्गपर अर्थात् देश-रक्षाके व्रतपर अटल होकर सूर्य और चन्द्रमाकी तरह चलनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।" कृपया इस व्रतपर मुझे दीक्षित करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। यजु. ४०।१८

"हे राष्ट्रनायक! (सेनाध्यक्ष) कृपया मुझे (सैनिकको) देश-रक्षाके व्रतरूपी सुपथपर ले चलो।" अतः आप मुझे इस व्रतमें दीक्षित करें। इस अनुग्रहके लिए हम आपके ऋणी होंगे।

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम

"इस कृपाके लिये हम आपकी बार बार स्तुति और गुण-गान करते हैं।" आपके उपदेशों और आदेशोंका हम मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करेंगे।

दीक्षित करते समय सैनिकके प्रति सेनाध्यक्षकी भावनायें

मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व
बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

"हे सैनिक! मातृ-भूमिकी रक्षाका मेरा व्रत है, इसी व्रतमें मैं तुझे भी आज दीक्षित कर रहा हूँ। इसके लिये तेरे हृदयको इस व्रतके प्रति ग्रहण कर रहा हूँ। इसलिये मेरी भावनाओंके अनुकूल ही तेरी भी भावनायें हों। मेरे उपदेश तथा आदेशका पालन एकाग्र मनसे कर। क्योंकि इस कार्यके लिये तुझे राष्ट्-पतिने मुझे सौंपा है।"

वेशभूषा-प्रदान

युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ १॥ ऋ. ३।८।४

इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥ २॥

'तुम वर्दीको धारण कर नया जीवन धारण कर रहे हो। तुम्हें क्रान्तिकारी कविगण अपनी ओजस्विनी वाणीसे कर्तव्य-पथपर आगे बढावें॥ १॥ यह बेल्ट (मेखला) तुम्हें बल, नीरोगता, आयु और शक्तिको प्रदान करे। इसके द्वारा तुम्हारे शरीरमें स्फूर्ति और कान्ति आवे। यह तुम्हारे लिये सदैव सौभाग्य-प्रद हो।'

सेनाध्यक्ष अपने सैनिकोंको बन्दूक आदि हथियारोंको प्रदान करते समय उनके सामने हथियारोंकी प्रशंसा और उनकी उपादेयतापर भी कुछ प्रकाश डाले। सैनिकोंके मनोंमें ऐसी भावना जाग्रत करनेका प्रयास करे, कि जिससे उनका मन दृढ और शक्तिशाली बने। निम्नाङ्कित मंत्र इसी भावको अभिव्यञ्जित करता है।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा
पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कमे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी
मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ. १।३९।२

'तुम्हारे आयुध (हथियार) दृढ और टिकाऊ होवें। ये बहुत पैनी धार-वाले और शत्रुओंके प्राण हरनेवाले हों। परन्तु मायावी और छली जो तुम्हारे विपक्षी हैं, उनके आयुध शीघ्र नष्ट होनेवाले हों। इनके सञ्चालनसे तुम विजय-श्रीका उद्वहन कर सकोगे।'

इस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित सैनिक अपनेको सर्व-शक्तिसम्पन्न अनुभव करता हुआ वीरताकी भावनाओंसे अपने मनको परिपक्व बनावे।

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम॥ यजु. २०।७

'जो पूर्ण-बल है वही मेरी भुजा है, जो उत्तम-कर्म-युक्त पराक्रम है वही मेरी इन्द्रियाँ और मन हैं। जो क्षात्र-धर्म, धैर्य, शौर्य, तेज, ओज, पराक्रम आदि गुण हैं और जो हृदयका ज्ञान है ये सब मेरी आत्मा है।'

इस प्रकार सैनिक अपनेको हथियारों आदिसे सुसज्जित करके अपनेमें सभी प्रकारकी शक्तियोंको समाविष्ट समझे।

स्वर्गको शक्तियोंके मध्यमें उसी प्रकार समझे, जिस प्रकार मछलियाँ अपनेको अगाध समुद्रमें समझती हैं। जैसा कि यह मंत्र कहता है—

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो
वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्व-वीरं चकार
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥ यजु. १८।३४

हमें सब दिशाओंसे शक्तियां प्राप्त हैं। शक्तियोंने ही हमें सर्वोत्तम वीर सैनिक बनाया है। हमारी सभी आकांक्षायें शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। हम महान राष्ट्रके महावीर सैनिक हैं। हम अपने राष्ट्रके सम्मान तथा अपनी स्वतन्त्रताकी परिरक्षामें सर्वथा योग्य हैं। हम अपने इन तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे शत्रुकी विशाल सेनाको क्षत-विक्षत करनेमें प्रवीण हैं। अब हम अपने स्वराज्यकी अर्चनाके लिए समुद्यत हैं। यह जीवन-पुष्पोंसे लसित बद्धाञ्जलि माताके चरणोंपर अर्पित है।

अभ्येनं वज्र आयसः सहस्र-भृष्टि-
रायातार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ. १।८०।१२

'सहस्रों गुना पीडा और दाहोंको उत्पन्न करनेवाले वज्रों, तोपों और बन्दूकोंसे बलिष्ठ-शत्रुओंको भी सर्वथा ध्वस्त करते हुए अपने स्वराज्यकी मैं अर्चना करता हूं।'

इन वीर-भावनाओंसे युक्त सैनिकोंको सेनानायक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भावनाओंसे भी उद्बुद्ध करता हुआ कहता है कि—

प्रजापतये त्वा परि ददामि, सर्वेभ्यस्त्वा
भूतेभ्यः परि ददामि ॥

'हे वीर-वसुन्धराके वीर सैनिको! तुम्हें राष्ट्रके लिए सौंपता हूं' तुम्हें 'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय' ही इस व्रतसे सुभूषित करता हूं।

सेना-पतिका दीक्षान्त भाषण

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

'मनुष्यको अपने व्यक्ति-गत स्वार्थोंको परिवारकी भलाईके लिये छोड देना चाहिए। ग्रामकी भलाईके लिये परिवारके कामोंको छोड देना चाहिए। ग्रामके हितको राष्ट्र हितके लिए छोड देना चाहिये और आत्मिक उत्थानके लिये सब कुछ छोड देना चाहिए।'

सुखस्य मूलं धर्मः ।

'सुखका कारण धर्म है।' परहित ही धर्म है। धर्म ही कर्तव्य है। कर्तव्य ही धर्म है। धर्मसे ही सबकी सत्ता है। मानवता ही मनुष्यका धर्म है। मानवतापर ही स्थिर रह कर मनुष्य मनुष्य कहलानेके योग्य होता है। इसीलिये गीताने भी धर्मका समर्थन किया है।

यतो धर्मः ततो कृष्णः यतो कृष्णः ततो जयः ।
(गीता)

धर्मस्य मूलं अर्थः । (चाणक्य-सूत्र)

"धर्म बिना धनके नहीं हो सकता।" अतः मनुष्यको संसारमें धनका अर्जन करना चाहिए। धनसे ही धर्म होता है। धनकी महत्ता आज भी और सर्वदासे मान्य है। सभी गुण धनमें निवास करते हैं। धनसे ही हम श्रीमान् और लक्ष्मीवान् बन सकते हैं। धनका जब जन-हितमें प्रयोग किया जाता है तो श्री प्राप्त होती है। इसके द्वारा जब अभ्युदय प्राप्त किया जाता है तो लक्ष्मी प्राप्त होती है। धन योग और क्षेम द्वारा प्राप्त और चिरस्थायी होता है। अन्यथा हाथमें आकर पक्षियोंकी भांति उड जाता है। प्राप्ति ही योग है और योगकी रक्षा ही क्षेम है।

अर्थस्य मूलं राज्यम् । (चाणक्य-सूत्र)

"अर्थका मूल कारण स्वराज्य है।" बिना स्वराज्यके जो धन प्राप्त होता है, वह कुत्तेके टुकडेकी तरह होता है। क्योंकि वह पराधीनतासे प्राप्त होता है। पर-अनुशासन या दूसरेके वशमें रहना ही पराधीनता है। स्व-अनुशासन या अपने वशमें रहना ही स्वा-धीनता है। पराधीनता ही दुःख और स्वाधीनता ही सुख है। इस विषयमें मनुका कथन है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयो ॥
(मनुस्मृति)

स्वाधीनतासे जो धन प्राप्त किया जाता है, उसके द्वारा मनुष्य गौरवान्वित होता है। पर-अनुशासन या पराधीनतासे जो धन प्राप्त होता है, उससे आत्मा जीवित होते हुए भी मुर्दा रहती है। राज्यका योग और क्षेम सैनिकों द्वारा ही हो सकता है। पूज्य बापूजीसे स्वराज्यका योग (प्राप्ति)

हुआ और श्री नेहरूके द्वारा इसका क्षेम (रक्षा) हो रहा है। हमारे प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल योग और क्षेम दोनों वहनकर रहे हैं। भगवान् कृष्णने भी गीतामें कहा है—
" योगक्षेमं वहाम्यहम्। "

राज्यस्य मूलं इन्द्रिय-जयः। (चाणक्य-सूत्र)

" इन्द्रिय-जित् ही राज्य कर सकता है। " भारत क्यों गुलाम हुआ? इसका कारण क्रान्त-दर्शी दयानन्दने अपने ' सत्यार्थ-प्रकाश ' में भोग-लिप्सा ही बताया है। जब राजा विलासी और इन्द्रियोंका गुलाम हो जाता है, तो राज्य-श्री उसके यहाँसे रूठ जाती है।

वीर-सैनिक भी इन्द्रिय-जित् होता है। अन्यथा वह अपने व्रतका पालन नहीं कर सकता है।

इन्द्रिय-जयस्य मूलं विनयः। (चाणक्य-सूत्र)

' जो मनुष्य इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करता है। वह विनयी होता है। विनयका कारण जितेन्द्रियत्व है। वही सभी प्रकारके जनतानुरञ्जक गुणोंको प्राप्त करता है। गुणोंसे सम्पन्न व्यक्तिसे ही जनता खुश रहती है। जनताका अनुराग ही सच्ची सम्पदा है। जो जनताका अनुराग प्राप्त कर लेता है वह उसके हृदयपर अपना आसन प्राप्त करके हृदय-सम्राट् बन जाता है। राम, कृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द आदि महापुरुष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वीर-सैनिक इन गुणोंसे अपनेको अलङ्कृत करता है।

इन्द्रिय-जयसे मनुष्य सब तरहकी सम्पत्तियाँ प्राप्त कर सकता है। यहां सम्पत्तिसे हमारा अभिप्राय सांसारिक, आत्मिक, सामाजिक सभी तरहकी सम्पत्तियोंसे है। इन्द्रिय संयमसे मनुष्यको इन सम्पत्तियोंकी प्राप्ति किस तरह होती है, यह संस्कृतके निम्न श्लोकमें बताया है—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते
जनानुरागात् प्रभवाः हि सम्पदः॥

' इन्द्रिय संयमसे मनुष्यमें विनय आता है। विनयसे उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होती है। सद्गुणोंकी वृद्धि होनेपर जनता उसकी ओर आकर्षित होती है और जनताके आकर्षित होनेपर उसे अपार सम्पत्तिके प्राप्त होनेमें कोई सन्देह ही नहीं रहता '।

आत्मविज्ञानं विनयस्य मूलम्। (चाणक्य-सूत्र)

' जो स्व या आत्माको जान लेता है। वही विज्ञानी होता है। ' विज्ञानके द्वारा ही विनय प्राप्त होता है। भौतिक विज्ञान तो स्वके जाननेका साधन-मात्र ही है। यह मानवका साध्य नहीं है। भौतिक-विज्ञान वहींतक अपेक्षित है जहाँ तक वह स्वके विज्ञानमें सहायक होता है। विद्याके द्वारा भी विनय प्राप्त होता है। विनयके द्वारा ही मनुष्य सत्पात्र बनता है। सत्पात्र ही धन प्राप्त करके सुखी और धर्मात्मा होता है।

विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत्। (चाणक्य-सूत्र)

' आत्म-ज्ञानके द्वारा ही मनुष्यमें समत्वकी भावना आती है आत्म-विज्ञानी ही समदर्शी हो सकता है। ' समदर्शी ही समर्थ बन सकता है। समर्थ कभी पाप-पुण्यके घेरेमें नहीं आता। वह निर्दोष होकर पर-हित-रत रहता है।

सम्पादितात्मा जितात्मा भवति।
(चाणक्य-सूत्र)

' समता-मय आत्मावाला ही जितात्मा होता है। ' अतः सच्चा सैनिक शूर, वीर और महान् होता है। इसीके बलिदानपर राष्ट्र स्थिर रहता है।

जितात्मा स्वराज्यमधिगच्छति।
(चाणक्य-सूत्र)

' इस प्रकार जितात्मा सैनिक अपने स्वराज्यको प्राप्त करता है। ' योग और क्षेमकी मशाल उसीके हाथमें होती है।

अमरताकी भावना

मृत्योर्माऽमृतं गमय।

' हे प्रभो! मुझे मृत्युसे अमरताकी ओर ले चलो। ' शरीरका मोह मानवको उसके कर्तव्य-पथसे विरत कर देता है। अमरताकी भावना द्वारा ही यह मोह-महासागर पार किया जा सकता है। अन्यथा युद्धमें कभी भी सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं-
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (गीता)

(क्रमशः)